अंक-29, सितंबर-अक्टूबर 1999, मूल्य 10 रुपये
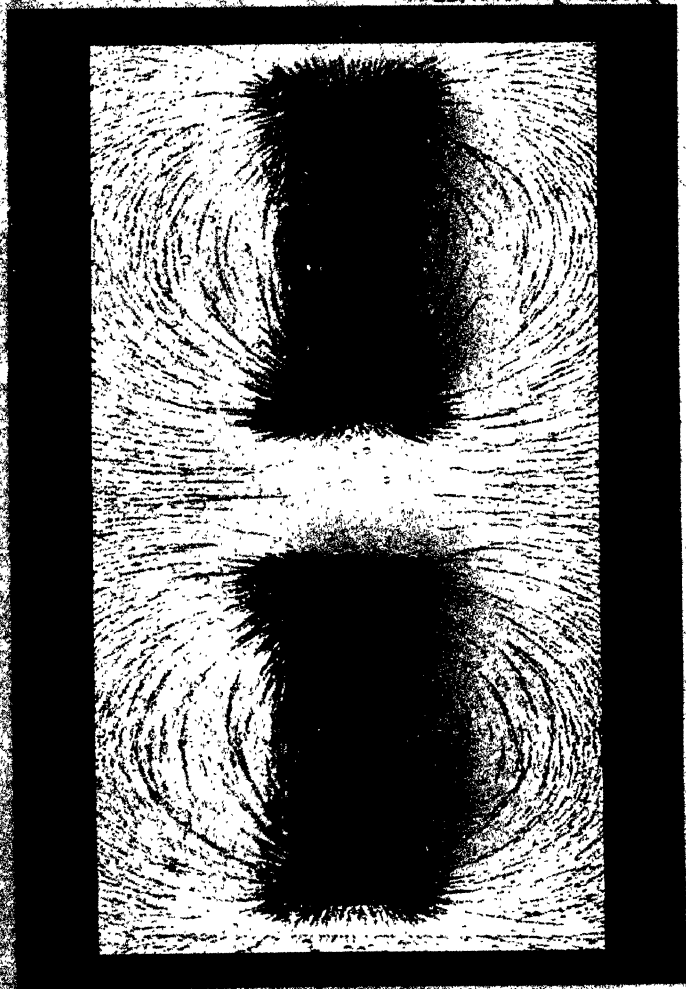
संपादन:

राजेश खिंदरी
दीपक वर्मा
माधव केलकर
रश्मि पालीवाल
सी. एन. सुब्रह्मण्यम
हृदयकांत दीवान

वितरण:

महेश बसेड़िया

सहयोग:

गजेन्द्र सिंह राठौर
रामभरोस यादव
अनिल पटेल
बृजेश सिंह

शैक्षिक संदर्भ

शिक्षा की द्वैमासिक पत्रिका
अंक-29, सितंबर-अक्टूबर 1999

संपादन एवं वितरण:

एकलव्य, कोठी बाज़ार
होशंगाबाद – 461 001
फोन: 07574 – 53518
ई-मेल: eklavyamp@vsnl.com

वार्षिक सदस्यता (6 अंक) : 50 रुपए
(ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं)

मुखपृष्ठ: चुम्बकीय बल रेखाएं। गाढ़े पारदर्शक घोल में लोहे के बारीक बुरादे को डालकर अच्छी तरह से हिलाया, फिर उसे एक चौड़ी ट्रे में फैलाकर नीचे चुम्बक रखने पर बनी चुम्बकीय बल रेखाओं की आकृति। चुम्बक के ऐतिहासिक पहलुओं पर लेख पृष्ठ 23 पर।

पिछला आवरण: खरमोर की प्रणय लीला। बारिश के मौसम में खरमोर घास के मैदानों में चले आते हैं; और फिर दिन के पहले पहर में भोर होते ही ज़ोर से आवाज़ करते हुए तीर की तरह ऊपर की ओर उछलते हैं, और फिर पैराशूट की तरह पंख फैलाकर ज़मीन की तरफ गिरते हैं। खरमोर के प्रणय निवेदन के बारे में विस्तृत विवरण पृष्ठ 93 पर।

इस अंक में निम्न किताबों से चित्र लिए गए हैं: ***सेंचुरी एशिया:*** *जनवरी-मार्च 1987।* ***मॉडर्न केमिस्ट्री:*** *निकोलस डी. ज़िमोपोलस, एच. क्लार्क मेटकाफ, जॉन इ. विलियम्स; प्रकाशक: होल्ट, राइनहार्ट एंड विन्स्टन ऑस्टिन।* ***केमिस्ट्री फॉर इंजीनियर्स एंड सांइटिस्ट:*** *लियोनार्ड फाइन, हरबर्ट बेल; प्रकाशक: सेंडर्स कॉलेज पब्लिकेशन्स।* ***इंडियन आर्किटेक्चर:*** *प्रकाशक: आर्नोल्ड-हाइनमेन।* ***प्रिंसिपल्स ऑफ ऐनेटोमी एंड फिज़ियोलॉजी:*** *जेराल्ड जे. टोराटोरा, सेंड्रा रेनॉल्ड ग्रेबोवस्की, प्रकाशक: हारपर कोलिंस कॉलेज पब्लिशर्स।*

मानव संसाधन विकास मंत्रालय की एक परियोजना के तहत प्रकाशित

संदर्भ में छपे लेखों में व्यक्त मतों से मानव संसाधन विकास मंत्रालय का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

एकलव्य के नए प्रकाशन

ओरीगेमी की दो किताबें

कागज़ को मोड़कर सुन्दर आकृतियों को सजीव करने वाली कला है ओरीगेमी। ओरीगेमी पर हिन्दी में अपनी तरह की दो किताबें।

तितलियां और अन्य खिलौने
पृष्ठ : 48+4; मूल्य : 25 रुपए

एक आधार अनेक आकार
पृष्ठ : 40+4; मूल्य : 20 रुपए

किताब मँगाने के लिए किताब की कीमत और साथ में रजिस्टर्ड डाक का खर्च 15 रुपए जोड़कर मनीऑर्डर से भेजें। दोनों किताबें एक साथ मँगाने पर आपको देने होंगे सिर्फ 55 रुपए। और हम आपको ये किताबें रजिस्टर्ड डाक से भेजेंगे।

पता : एकलव्य, ई - 1/25 अरेरा कॉलोनी
भोपाल, 462 016 म. प्र.

सोमनाथ – एक इतिहास के विविध वृतांत 69

सन् 1026, महमूद गज़नवी ने सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण किया और वहां की मूर्ति को तोड़ा। इस घटना का उल्लेख कई ऐतिहासिक स्रोतों मे मिलता है। वे सब स्रोत – चाहे तुर्क-फारसी उल्लेख हो, जैन विवरण, संस्कृत शिलालेख या और भी कई वर्णन – वे सब इस घटना को बहुत ही अलग-अलग नज़रिए से देख रहे थे। वास्तव में सदी-दर-सदी इस घटना की समझ में ही बदलाव आता रहा। ब्रिटिश हुकूमत के दौरान भारत में इस घटना को काफी महत्वपूर्ण बना दिया गया। क्या एक इतिहासकार के लिए यह ज़रूरी नहीं कि वह सभी स्रोतों का अध्ययन कर घटना की तह तक जाए और उस घटना को लेकर नज़रियों में आए बदलावों का आकलन करे . . . ? आखिर एक इतिहासकार द्वारा दिया गया विश्लेषण ही तो आम जनता की राय बनाने में अहम् भूमिका निभाता है।

शैक्षिक संदर्भ

अंक 29, सितंबर-अक्टूबर 1999

इस अंक में

मैं संदर्भ की नियमित पाठक हूं। अंक 27 में 'पौधों में भोजन कुछ प्रयोग कुछ इतिहास' पसंद आया। मैंने वनस्पति शास्त्र में एम. एस. सी. की है पर मुझे आज तक ऑक्सीजन को किस तरह पहचाना गया इसका इतिहास पता नहीं था और न ही मैंने स्टोमेटा का खुला हुआ इतना सुंदर चित्र देखा था।

अंक 28 में प्रकाशित स्निग्धा मित्रा का लेख 'एक बीज पत्री .....' पढ़ा लेकिन उसका अर्थ अंत तक स्पष्ट नहीं है। वे क्या बताना चाहती हैं। भुट्टा भुनते समय जो भाग बाहर था वह क्या था यह बात कहीं भी नहीं बताई गई, लेख के आखिर में जिन्न की तरह आ गई। कम-से-कम लेख में निष्कर्ष स्पष्ट हो।

आशा है आगे भी अच्छे लेख पढ़ने के लिए मिलेंगे।

हेमा स्वामी
11-ए, पुष्पनगर
इंदौर, म. प्र.

मुझे आज ही 'संदर्भ' का 28 वां अंक मिला, मुखपृष्ठ बहुत ही मनभावन एवं रोचक है। स्निग्धा मित्रा का लेख 'एक बीजपत्री बीजों में बीजपत्र' रोचक एवं खोज-परक है। इस लेख में समस्या को काफी विस्तार से विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। स्कूटेलम और बीज पत्र वास्तव में एक ही बात है। मक्के में बीजपत्र पर और विचार करने की जरूरत है। इस लेख में कई बातें छूटी हैं। लेख के आखिरी वाक्य 'इसमें तो स्कूटेलम समेत प्रांकुर, मूलांकुर आदि सब हैं' का आशय स्पष्ट नहीं हुआ। भुट्टा भूनते समय भ्रूणपोष बाहर नहीं आता क्या? इन सब बातों पर और विचार विमर्श की गुंजाइश है। आशा करता हूं कि भविष्य में भी ऐसी अन्य समस्याओं पर लेख प्रकाशित होंगे।

किशोर पंवार
सेंधवा, म. प्र.

संदर्भ का 27 वां अंक पढ़ा। केरन हेडॉक का लेख 'जवाब सीखें या जवाब देना सीखें' बहुत ही रोचक लगा। बच्चों ने जो जवाब दिए उन्हें पढ़कर मन अचंभित हो गया। ऐसे बच्चों को कक्षा का सबसे खराब विद्यार्थी नहीं कह सकते।

'किसने थूक दिया पत्तों पर' पढ़कर मालूम हुआ कि इस तरह के भी कीट इस दुनिया में हैं। इसी तरह अगले अंक में भी अच्छी व मज़ेदार जानकारियां भेजते रहें। यही अनुरोध है।

अंक 28 में 'परीक्षाएं और सिर्फ परीक्षाएं', 'छिपा रहस्य' भी अच्छे बन पड़े हैं। सिर्फ पांच सेकेंड में संख्याओं के योगफल वाला सवाल पढ़ा। इसकी जगह यदि कोई वर्ग पहेली दे दिया करें तो बेहतर रहेगा।

अजय नेमा
शुजालपुर, म. प्र.

मैं 'संदर्भ' का नियमित पाठक था और विज्ञान शिक्षक होने के नाते इसमें

विशेष रुचि थी। किन्तु अब मैं ऐसे विद्यालय में आ गया हूं जहां उक्त पत्रिका नहीं आती है। अत: आपसे चाहता हूं कि आप मेरे इस विद्यालय को संदर्भ के बारे में जानकारी दीजिए। मुझे विश्वास है कि हमारे संस्था प्रमुख निश्चित रूप से इस पत्रिका को शाला में मंगवाना शुरू करेंगे।

एक शिक्षक
शासकीय हाई स्कूल, कचनारा
नाहरगढ़, मंदसौर, म. प्र.

विनती है उन सभी पाठकों से जो किताबों/पत्रिकाओं को पढ़ने और संग्रह करने में रुचि रखते हैं; कृपया अपनी संग्रहित किताबें/पत्रिकाएं दूसरों को भी पढ़ने का मौका दें। क्योंकि मेरा 'संदर्भ' का रिश्ता ऐसे ही एक पाठक के जुनून से टकराकर हुआ। मैं अपने मित्र के यहां गया था, तभी मेरी नज़र उसकी अलमारी पर गई; देखा संदर्भ रखी थी। इच्छा हुई पढ़ने की। मैंने मांगा पर उसने बहाने बनाना शुरू कर दिया। कई बार कोशिश की पर बात न बनी। अब मेरी इच्छा तीव्र हो गई और आखिरकर झगड़कर मैंने संदर्भ ले ली तथा पता लेकर उसे वापस भी कर दी। मुझे बुरा तो लगा पर अब संदर्भ पाकर खुश हूं।

अरविन्द कुरील
जी. टी. बी. नगर, मुंबई

मैंने आपके द्वारा संपादित पत्रिका 'संदर्भ' का अंक (जुलाई-अगस्त 95) पढ़ा जो काफी अच्छा लगा। इसके पहले मैंने यह पत्रिका कभी नहीं पढ़ी थी। मैंने इसे प्राप्त करने के लिए कई बुकस्टॉल पर पता किया पर यह कहीं नहीं मिली। यह मुझे कैसे प्राप्त हो सकती है?

रूपेश कुमार मिश्र
सरगुजा, म. प्र.

संदर्भ का 27 वां अंक मिला, मुखपृष्ठ देखकर ही लगा पत्रिका समय पर प्राप्त हुई। मुझे यह अंक सोमवार 9 अगस्त को प्राप्त हुआ। सूर्यग्रहण बुधवार 11 अगस्त 99 को होने वाला था। तुरंत ही मैंने सूर्यग्रहण के बारे में दिए गए लेख पढ़े। यह लिखने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि मुझे जो जानकारी सूर्यग्रहण के बारे में संदर्भ से हुई वह पहले कहीं से प्राप्त नहीं हुई थी।

स्तंभ 'ज़रा सिर तो खुजलाइए' नियमित नहीं है, ऐसे स्तंभों को नियमित कर दें। लेख 'पौधों में भोजन', 'जवाब सीखें या जवाब देना सीखें' पसंद आए। परंतु तारीफ के लायक रही जानकारी 'संपूर्ण सूर्यग्रहण' और 'ब्लैक होल' लेखों में। आशा है भविष्य में भी इस तरह की सहज और सरल भाषा में जानकारी मिलती रहेगी। अनुरोध है 'विज्ञान प्रश्न मंच' जिसमें हम अपने विज्ञान संबंधित प्रश्न पूछ सकें, शुरू करें।

कुणाल ढोमणे
सारणी,
ज़िला बैतूल, म. प्र.

संदर्भ पत्रिका का मैं लगातार पाठक रहा हूं। इसमें कोई शक नहीं कि यह पत्रिका ज्ञानवर्धक है। मेरी उम्र अब 85 साल हो गई है। इस उम्र में मेरा इतना पढ़ पाना मुश्किल है। डॉक्टरों द्वारा दिए गए परामर्श के कारण मेरे लिए इतना छोटा पढ़ पाना ठीक नहीं है। इसलिए चाहकर भी अब मैं सदस्यता नवीनीकरण नहीं करवा पा रहा हूं।

जगजीत सिंह
पवारगढ़, अशोकनगर
गुना, म. प्र.

संदर्भ के पिछले कुछ अंकों में ये सब लेख पसंद आए – 'ग्रेगर मेंडल जीवनी', 'बहुस्तरीय शिक्षण', 'प्रीकैम्ब्रियन जीवाश्म' 'पात्रता और अभाव' और 'परखिए अपनी नज़र को' की चंद्रमा से संबंधित जानकारी। अंक 27 में 'ब्लैक होल' तथा 'प्रारंभिक बौद्धों की सामाजिक पृष्ठभूमि' लेख संदर्भ की सार्थकता के जीवंत प्रमाण हैं।

किसी कारणवश मैं अपना आगामी सदस्यता शुल्क समय से प्रेषित नहीं कर सका फिर भी आपने अंक 27 भेजकर अपने पाठक के प्रति जो स्नेह प्रकट किया है वह अन्यत्र असंभव था। आपने मुझे इस ज्ञानवर्द्धक पत्रिका के एक अंक से वंचित होने से बचा लिया है।

प्रदीप पाण्डेय (शिक्षक)
बदनावर, धार, म.प्र.

मैं नवमीं कक्षा का छात्र हूं। हमारे स्कूल में भोपाल से एक विज्ञान प्रदर्शनी आई थी, जिसमें कुछ किताबें भी बिक्री के लिए रखी हुई थीं। उन्हीं किताबों में से एक किताब 'संदर्भ' दिखी। जब आवरण पृष्ठ को खोलकर अंदर देखा तो ऐसा लगा जैसे ज्ञान का खज़ाना मेरे हाथ लग गया हो। इस पत्रिका का 26 वां अंक मैं ले पाया था क्योंकि मैं छः अंकों के सजिल्द को खरीदने की तैयारी से नहीं आया था। लेकिन जब उस किताब को पढ़ा तो ऐसा लगा कि इसके पूर्व के भी अंक मैंने क्यों नहीं लिए। अतः अब मैं इसका वार्षिक सदस्य बनना चाहता हूं।

अंकुर तिवारी
इटारसी, ज़िला होशंगाबाद, म. प्र.

ज़िला शिक्षा एवं प्रशिक्षण संस्थान पेण्ड्रा में एक प्रशिक्षण के दौरान जाने का अवसर मिला। वहीं यह बहुमूल्य ज्ञानवर्धक संग्रहणीय संदर्भ पत्रिका सौभाग्यवश मुझे मिली। पता नोटकर और जानकारी के लिए पत्र लिखा तो आपकी ओर से उपहार के रूप में एक पत्रिका एवं मंगाने की नियमावली मिली, तब से नियमित पाठक हूं।

इसके सभी अंक अच्छे लगते हैं अतः प्रतीक्षा करना स्वाभाविक है। 'सादे पानी में नमक का घोल सीरिंज द्वारा कैसे नाचता है' प्राथमिक विद्यालय के विद्यार्थियों को करके दिखाया तो वे खुशी से नाच उठे। अंक 26 में चंद्रमा पर जानकारी बहुत अच्छी है। 'कुछ भूगोल, इतिहास और कालिदास' सी. एन. सुब्रह्मण्यम का लेख रोचक लगा। किंग कोबरा की जानकारी भी विस्तृत है।

अंक 27 में विजय शंकर वर्मा का

लेख 'ब्लैक होल' तथा 'खग्रास सूर्य ग्रहण' प्रासंगिक एवं ज्ञानवर्धक हैं। 'स्कूली विज्ञान पर बच्चों का नज़रिया' बच्चों को समझने में शिक्षक के लिए सहायक है। 'जवाब सीखें या जवाब देना सीखें', 'किसने थूक दिया पत्तों पर' जैसे लेखों से सुसज्जित पत्रिका शिक्षकों एवं विद्यार्थियों, दोनों के लिए उपयोगी है। इस पत्रिका का देर से पहुंचना अच्छा नहीं लगता। पत्रिका के वार्षिक सदस्यों को सदस्यता समाप्ति की सूचना तथा नवीनीकरण हो जाने की सूचना देने की परंपरा बहुत अच्छी है।

सुशील तिवारी (शिक्षक)
बरपाली, कोरबा, म. प्र.

पिछले अंक में 'अद्भुत ज्यामितीय आकृतियां.....' पढ़ रहा था। लेख की प्रस्तावना में बहुभुज के बारे में चर्चा है जिसमें परिभाषित है कि यदि किसी बहुभुज की सभी भुजाएं एवं सभी कोण बराबर हों तो उसे 'सम बहुभुज' कहते हैं। पर इस बात ने मुझे उलझन में डाल दिया।

जबकि यदि एक 'सम चतुर्भुज' की बात करते हैं तो उसकी परिभाषा में ही है कि उस चतुर्भुज की चारों भुजाएं बराबर होती हैं पर सभी कोण आपस में बराबर नहीं होते। यदि कोण भी बराबर हो जाते हैं तो वह वर्ग कहलाने लगता है।

परिभाषा में ऐसा संशय पैदा होने का कारण यह हो सकता है कि यदि किसी बहुभुज के सभी कोण बराबर हैं तो उसकी सभी भुजाएं बराबर होंगी। परंतु इसका विलोम सत्य नहीं है कि यदि सभी भुजाएं बराबर हों तो भी ऐसे बहुभुज देखे जा सकते हैं जिनके सभी कोण बराबर नहीं हैं, खासकर जब हम सामान्य आकृतियों की बात न करें।

यहां बनाए चित्र में एक असामान्य आकृति है। सात भुजाओं से घिरा एक बंद क्षेत्र एक सप्त भुज कहलाएगा। मुझे अपनी इस उलझन के लिए कोई उचित स्रोत नहीं मिला कि क्या इसे पिछली कक्षाओं में पढ़ाई जा रही सम बहुभुज की परिभाषा से 'सम सप्तभुज' कहूं या कुछ और नाम जैसे 'समबाहु सप्तभुज'? जहां तक सम बहुभुज को अंग्रेज़ी में Regular polygon कहते हैं और Regular का शाब्दिक अर्थ नियमित या व्यवस्थित होता है इस हिसाब से संदर्भ में दी गई परिभाषा ज़्यादा उचित लगती है, क्योंकि यदि सभी कोण बराबर होंगे तो आकृति ज़्यादा व्यवस्थित लगती है। तब क्या पिछली कक्षाओं में बताई जाने वाली परिभाषा या नामकरण में सुधार होना चाहिए? क्योंकि समचतुर्भुज की परिभाषा अपने आप में भिन्न है तथा स्पष्ट रूप में कक्षा 9 या 10 में पढ़ाई जाती है।

ऐसी ही कुछ गड़बड़ी बहुफलक के मामले में हुई है। यदि आप कहते हैं कि 'सम बहुफलक' के सभी शीर्ष एक जैसे हैं

तब तो निश्चित ही इन पांच समबहुफल (जिनकी भुजाएं एवं फलक समान हैं) के अलावा अन्य संभव नहीं। अन्यथा यदि आप सभी शीर्ष की समानता में छूट देते हैं तो कई अन्य सम बहुफलक (जिनके शीर्ष असमान हों) संभव हैं क्योंकि शीर्ष पर सिर्फ 360 डिग्री का कोण ही एक समतल का निर्माण करता है जिससे आकृति बहुफलक न रहकर बहुभुज बन जाती है। यदि कोण 360 डिग्री से ज़्यादा हो जाता है तब भी एक सम बहुभुज (असमान शीर्ष) की रचना हो सकती है जो कि एक असामान्य आकृति होगी। जैसे यदि मैं किसी विंश फलक के एक त्रिभुज के स्थान पर एक सम-बाहु त्रिभुजों से बना चतुष्फलक जोड़ दूं तो वह एक ऐसा सम बाइसफलक बन जाता है जिसके शीर्ष असमान हैं।

इसलिए यह स्पष्ट करना चाहिए कि जिस शीर्ष के सभी फलक तथा भुजाएं बराबर हों वैसे कई सारे बहुफलक संभव हैं, परंतु यदि हम शीर्ष की समानता को हमेशा ध्यान में रखते हैं तब ही इन पांच समबहुफलक के अलावा अन्य समबहुफलक संभव नहीं हैं।

प्रमोद मैथिल
इटारसी,
ज़िला होशंगाबाद, म. प्र.

मैंने संदर्भ का 1997 का एक अंक पढ़ा। मुझे हमेशा से ऐसी ही किसी पत्रिका की तलाश थी जिसमें मेरे पाठ्यक्रम से संबंधित प्रश्न हों। अभी मैं ग्यारहवीं में पढ़ रहीं हूं। मैंने आर्टस के विषय लिए हैं। मैं चाहती हूं कि संदर्भ में लोकसभा, राज्यसभा तथा हमारे पाठ्यक्रम से संबंधित लेख भी प्रकाशित किए जाएं।

ममता धीमन
पोस्ट: बुरियल, हरियाणा

अंक 28 पढ़ा। अजय शर्मा का लेख 'क्या बहे बिजली के तार में' बहुत पसंद आया। मेरी इच्छा है कि इस लेख को और आगे बढ़ाएं। मैं यह भी जानना चाहता हूं कि करंट लगने पर मृत्यु किस तरह हो जाती है एवं कम वोल्ट के करंट से हाथ में झटका क्यों लगता है?

'ठोस, द्रव, गैस और कांच' लेख को पढ़कर पदार्थ की अवस्थाओं का सही ज्ञान हुआ।

दीपक मोंदिया
ई-13,
एम. पी. ई. बी. कॉलोनी, पाली,
ज़िला उमरिया, म. प्र

*(करंट क्यों लगता है इससे संबंधित लेख 'बिजली के झटके' **संदर्भ के अंक 19, सितंबर-अक्टूबर 1997,** में प्रकाशित हुआ है।)*

(करंट क्यों लगता है इससे संबंधित लेख 'बिजली के झटके' संदर्भ के अंक 19, सितंबर-अक्टूबर 1997, में प्रकाशित हुआ है।)

■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■ ■

पदार्थ नहीं तंत्र कोलॉयडीय होते हैं

हमारी रोज़मर्रा की ज़िंदगी में बहुत से कोलॉयड हमारे आसपास मौजूद हैं — झिरी में से झांकती सूरज की किरण हो या स्याही की दवात। यही नहीं हम बहुत सी क्रियाएं भी इसलिए करते हैं क्योंकि हमारा पाला कोलॉयड से पड़ जाता है। बताइए भला, दवाई की बोतलों को अक्सर अच्छी तरह हिलाने के लिए के लिए क्यों कहा जाता है?

सुशील जोशी

हरिशंकर परसाई ने इंस्पेक्टर मातादीन के साथ-साथ घिसना पत्थर को भी अमर कर दिया। मगर उन्हें शायद मालूम नहीं था कि यह घिसना पत्थर एक वैज्ञानिक जिज्ञासा का भी विषय है। उन्हें मालूम होने की ज़रूरत भी नहीं थी। मगर मुझे भी मालूम नहीं था और यह ठीक नहीं है। कई विषयों को हमें इस तरह पढ़ाया गया है कि हम उन विस्तृत विषयों की एक संकीर्ण छवि बनाकर उसी को दिलो-दिमाग में रख लेते हैं। यहां प्रसंग कोलॉयड्स का है। कोलॉयड्स यानी कलिल।

आपसे या मुझसे कहा जाए कि कुछ कोलॉयड तंत्रों के नाम बताओ तो मैं समझता हूं हम दूध, गोंद, स्याही, मांड आदि का नाम फौरन ले लेंगे और उसके बाद बगलें झांकने लगेंगे। लिहाज़ा यहां मैं कोलॉयड अवस्था की पेचीदा बारीकियों में जाने की बजाए वे बातें करना चाहता हूं जो मैंने हाल में पढ़ी हैं।

कोलॉयड यानी विषमांग मिश्रण

आपने देखा होगा कि हम सदैव कोलॉयड की चर्चा को तरल पदार्थों से जोड़ते हैं। उनमें भी हम उन्हीं कोलॉयड्स की चर्चा करते हैं जिनमें एक अवस्था (Phase) तरल और दूसरी तरल या ठोस हो। यहां मैं स्पष्ट कर दूं कि कोलॉयड दरअसल विषमांग

विभिन्न तरह के कोलॉयड

छिन्न-भिन्न माध्यम	छिन्न-भिन्न अवस्था	उदाहरण
तरल	तरल	दूध
तरल	ठोस	साबुन का घोल, टूथपेस्ट
तरल	गैस	झाग
गैस	तरल	बादल, कुहासा
गैस	ठोस	धुआं, उड़ती धूल
ठोस	तरल	जिलेटिन, जैली
ठोस	गैस	फोम, घिसना पत्थर
ठोस	ठोस	ढलवां लोहा, ओपल

मिश्रण होते हैं। इनमें दो या दो से ज़्यादा अवस्थाएं होती हैं। हम यहां दो अवस्था वाले कोलॉयड्स की बात करेंगे। कोलॉयड में मौजूद दो अवस्थाओं को छिन्न-भिन्न अवस्था (Dispersed phase) और छिन्न-भिन्न माध्यम (Dispersion medium) कहते हैं। और समझने की सबसे पहली बात यह है कि छिन्न-भिन्न अवस्था और छिन्न-भिन्न माध्यम की विविधता के आधार पर कोलॉयड्स कई किस्म के होते हैं।

उपरोक्त तालिका में आपने ध्यान दिया होगा (न दिया हो, तो दें) कि गैस में गैस का कोलॉयड नहीं होता। क्यों? यह सवाल आपके लिए। मगर कहानी थोड़ी इंटरवल से शुरू हो गई है। फिर से शुरू करता हूं।

सबसे पहले तो यही सवाल करना होगा कि कोलॉयड होते क्या हैं। सरल तौर पर कहें तो कोलॉयड दो या दो से अधिक पदार्थों का विषमांग मिश्रण है – अर्थात घोल नहीं है (घोल समांग यानी Homogeneous होते हैं)। मगर क्या कंकड़-पत्थरों को मिलाकर रख दें, तो कोलॉयड कहलाएगा? नहीं, हमें अपनी परिभाषा को थोड़ा और सीमित बनाना होगा। कोलॉयड एक ऐसा विषमांग मिश्रण है जिसमें कणों का आकार बहुत सूक्ष्म होता है* – इतना सूक्ष्म कि वे सूक्ष्मदर्शी से दिखाई न पड़ें।

* *सामान्यत: कोलॉयड में कणों का आकार 10^{-} से 10^{-6} मिलीमीटर होता है। इसलिए इन्हें दृश्य माइक्रोस्कोप से नहीं देखा जा सकता।*

यहां बात छिन्न-भिन्न अवस्था की हो रही है। मगर माध्यम में ये कण आण्विक या आयनिक स्तर पर नहीं बल्कि संकुल रूप में होते हैं। दरअसल एक पदार्थ, दूसरे पदार्थ में आण्विक या आयनिक स्तर पर फैल जाए तो घोल बनता है।

कोलॉयड की पहचान

1840 के आसपास एक इतालवी वैज्ञानिक फ्रान्सेस्को सेल्मी ने सबसे पहले इस बात की ओर ध्यान दिलाया था कि कुछ 'घोलों' के लक्षण असामान्य होते हैं। सबसे पहली बात तो यह थी कि ये 'घोल' प्रकाश का बिखराव (Scatter) करते थे। दूसरी बात यह थी कि लवण डालने पर इनका अवक्षेपण (Precipitation) हो जाता था। और सबसे बड़ी बात यह थी कि इन पदार्थों को 'घोलने' या 'अवक्षेपण' के दौरान तापमान में कोई परिवर्तन नहीं होता था (जबकि क्रिस्टलीय पदार्थों को घोलें तो तापमान घटता-बढ़ता है)। सेल्मी ने इन्हें 'छद्म
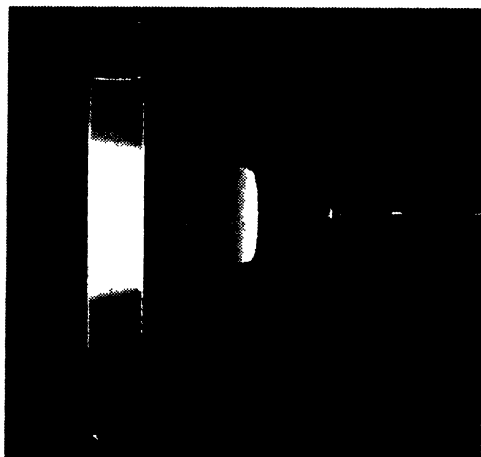
टिण्डाल प्रभाव: किसी परखनली में पानी लेकर उसमें दूध की आठ-दस बूंदें डालिए। अब किसी अंधेरी जगह परखनली को सीधा रखकर उस पर टॉर्च की रोशनी डालिए। रोशनी की दिशा के समकोण पर अपनी आंखें रखने पर परखनली के भीतर रखे तरल में चमक दिखाई देगी।

कोलॉयड के कण इतने सूक्ष्म होते हैं कि उन्हें दृश्य माइक्रोस्कोप से नहीं देखा जा सकता। इसलिए उन्हें देखने के उपकरण अल्ट्रा-माइक्रोस्कोप में टिण्डाल प्रभाव इस्तेमाल किया जाता है। अल्ट्रा-माइक्रोस्कोप में प्रकाश की खूब तेज़ किरणों को कोलॉयड पर केन्द्रित किया जाता है और उसके पीछे काला पर्दा रखा जाता है। कोलॉयड में उपस्थित कण प्रकाश की किरणों को बिखेर देते हैं और चमकने लगते हैं।

घोल' कहा था। कोलॉयड शब्द का श्रेय थॉमस ग्राहम को जाता है। थॉमस ग्राहम ने इन पदार्थों का गहन अध्ययन किया था – यह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध की बात है।

तो कोलॉयड्स ऐसे घोल हैं जिनमें दो या दो से अधिक अवस्थाएं होती हैं; सामान्य घोल में एकाधिक पदार्थ (घटक) हो सकते हैं मगर अवस्था एक ही होती है। कोलॉयड में दो अवस्थाओं से हमारा मतलब है कि दो ऐसे घटक जिनके बीच संपर्क सतह स्पष्ट रूप से परिभाषित की जा सके। जबकि घोल में घुलित पदार्थ – आण्विक/आयनिक रूप में होता है। अणु/आयन की 'सतह' जैसी कोई चीज़ सतह के सामान्य अर्थों में नहीं होती।

बहरहाल, इन सतही पेचीदगियों में न जाकर हम कोलॉयडीय घोलों के कुछ लाक्षणिक गुणों की बात कर सकते हैं:

1. आपने ज़रूर ध्यान दिया होगा कि यदि खिड़की के किसी सुराख या कबेलू की छत में से यदि रोशनी का कतरा कमरे में आए तो हमें हवा में धूल के कण साफ नज़र आने लगते हैं। यह प्रकाश के बिखरने (Scattering) की वजह से होता है। यह कोलॉयड घोलों का एक लक्षण है। इसे टिण्डाल प्रभाव कहते हैं। सच्चे घोलों में यह गुण नहीं होता। पानी में दूध की आठ-दस बूंदें डालकर उसे किसी पारदर्शी कांच के गिलास या परखनली में ले लीजिए। अब इस पर टॉर्च चमकाइए। टॉर्च की रोशनी की दिशा से समकोण पर बैठकर इसे देखिए। टिण्डाल प्रभाव के दर्शन होंगे। यानी परखनली में मौजूद घोल तरल नहीं है बल्कि कोलॉयड है।

2. कोलॉयडल घोलों में कणों का विसरण बहुत धीमे-धीमे होता है। जैसे, यदि मण्ड का गाढ़ा घोल बना लें और उसके ऊपर पानी डाल दें तो इस मण्ड को पूरे पानी में फैलने में बहुत समय लगेगा। यानी परखनली में मौजूद तरल घोल नहीं है बल्कि कोलॉयड है।

एक दूसरा उदाहरण लेकर भी इसे समझ सकते हैं। शक्कर पानी में घुल जाती है यानी घोल बनाती है परन्तु स्याही की इंडिया इंक की टिकिया पानी में कोलॉयड बनाती है। अगर एक ही आकार के मिश्री के डल्ले और इंडिया इंक की टिकिया को पानी की बराबर मात्रा में रखें तो – स्याही की टिकिया को पानी में फैलने में कहीं ज़्यादा समय लगेगा।

3. आपने किशमिश को पानी में डालकर फूलते ज़रूर देखा होगा। पानी में डालने पर किशमिश इसलिए फूल जाती है क्योंकि पानी उसमें घुस जाता है। पानी अंदर घुसता है परासरण (Osmosis) क्रिया के कारण। यदि इसी किशमिश को आप शक्कर के गाढ़े

घोल में रख दें तो फूलने की बजाए और सिकुड़ जाएगी। यह भी परासरण की वजह से होता है।

मोटेतौर पर, यदि दो घोलों को एक खास किस्म की झिल्ली (अर्द्धपारगम्य झिल्ली) के दो तरफ रख दें तो विलायक इस झिल्ली के आर-पार निकल जाता है। विलायक की गति पतले से गाढ़े घोल की ओर होती है – इस क्रिया को परासरण कहते हैं। ऐसा कहते हैं कि प्रत्येक घोल का एक परासरण दाब होता है – गाढ़े घोल का ज़्यादा और पतले घोल का कम।

ऐसा बताते हैं कि कोलॉयड घोलों का परासरण दाब अपेक्षाकृत कम होता है। इस बात का मतलब यह है कि घुलित पदार्थ की मात्रा के आधार पर जितने परासरण दाब की उम्मीद की जाती है, उससे कम दाब कोलॉयड घोल का होता है।
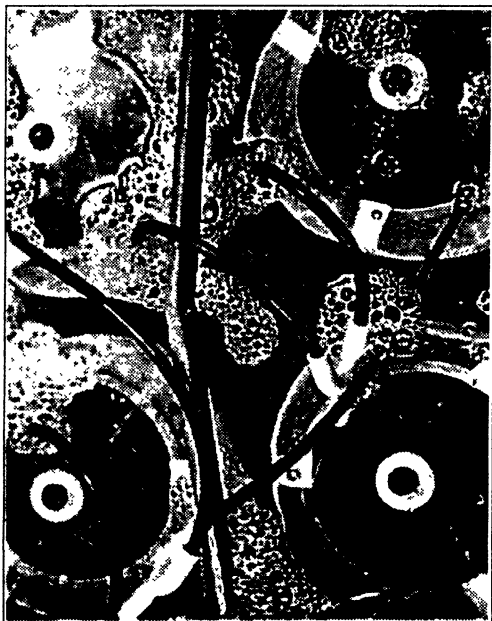
4. डाएलिसिस का नाम आपने ज़रूर सुना होगा। लोकनायक जयप्रकाश ने इसका नाम प्रसिद्ध कर दिया था। मान लीजिए आपके पास एक मिश्रण है जिसमें कुछ पदार्थ तो कोलॉयड अवस्था में हैं और कुछ पदार्थ घुलित अवस्था में। यदि इस मिश्रण को एक झिल्ली के

डाएलिसिस: आमतौर पर जिनकी किडनियां काम करना बंद कर देती हैं उन मरीज़ों के खून के   के लिए डाएलिसिस यानी कृत्रिम किडनी की मदद ली जाती है। डाएलिसिस में मरीज़ का खून सेलोफेन की बनी अर्द्धपारगम्य झिल्लियों के संपर्क में रखा जाता है। अशुद्ध पदार्थ झिल्ली से बाहर निकल जाते हैं और शुद्ध खून रोगी के शरीर में दुबारा दाखिल किया जाता है।

एक ओर रख दिया जाए तो घुलित पदार्थ तो दूसरी ओर निकल जाएंगे मगर कोलॉयड नहीं निकल पाएंगे। डाएलिसिस में ठीक यही प्रक्रिया की जाती है। चूंकि मनुष्य की किडनियां काम नहीं कर रही इसलिए खून को शरीर से बाहर निकालकर अर्द्धपारगम्य झिल्ली के संपर्क में लाते हैं। यूरिया और अन्य ज़हरीले पदार्थ जो खून में घुलनशील अवस्था में होते हैं; वे सब इस झिल्ली में से होकर दूसरी ओर बाहर निकल जाते हैं जबकि कोलॉयड खून अंदर बना रहता है। इस तरह से खून साफ होता रहता और फिर इस साफ खून को शरीर में वापस दाखिल कर देते हैं।

5. सच्चे घोल के विपरीत कोलॉयडीय मिश्रण में अवक्षेपण का गुण होता है। यदि किसी कोलॉयडीय मिश्रण को वैसे ही छोड़ दें तो समय के साथ उसमें से छिन्न-भिन्न अवस्था अलग हो जाती है — इसे स्कंदन (Coagulation) कहते हैं। वैसे तो यह क्रिया रखे-रखे भी होती है मगर यदि मिश्रण को गरम करें, बहुत ठण्डा करें, तेज़ी से हिलाएं या उसमें कोई लवण डाल दें तो क्रिया तेज़ हो जाती है।

कोलॉयड का अवक्षेपण का गुण चूने के घोल में बहुत ही आसानी से दिख जाता है। अगर परखनली में चूने का घोल लेकर उसे हिलाकर दो-चार मिनट स्थिर रख दें तो चूने के कण तुरंत नीचे बैठने लगते हैं। इसी वजह से वार्निश रखा रहे तो तले पर बैठ जाता है और दवाई पीने से पहले शीशी को अच्छी तरह से हिलाना पड़ता है।

आप यह सोचेंगे कि अगर ऐसा ही है तो फिर सब स्याहियां नीचे क्यों नहीं बैठ जातीं? ऐसा इसलिए नहीं होता क्योंकि इनमें ऐसे रसायन मिलाए जाते हैं जो कोलॉयड के छिन्न-भिन्न पदार्थ को आसानी से अलग होकर नीचे नहीं बैठने देते।

6. और अंतिम बात यह है कि प्राय: कोलॉयडीय पदार्थ का इलेक्ट्रोफोरेसिस होता है। (हमेशा नहीं होता)। यदि किसी कोलॉयडीय मिश्रण में इलेक्ट्रोड रखे जाएं तो सारे कोलॉयडीय कण एक ही इलेक्ट्रोड की ओर गति करते हैं। यह क्रिया विद्युत अपघटन से भिन्न है। विद्युत अपघटन में आयनों की गति दोनों इलेक्ट्रोडों की ओर होती है क्योंकि ऐसे घोल में धन व ऋण आयन बराबर मात्रा में होते हैं तथा संबंधित इलेक्ट्रोड की ओर गति करते हैं। कोलॉयड के सभी कणों पर एक ही प्रकार का आवेश होता है इसलिए सारे कोलॉयडीय कण एक ही इलेक्ट्रोड की ओर गति करते हैं।

यडीय तंत्र

अब शायद यह सवाल उठ सकता है

कि कोलॉयड आखिर होते क्या हैं और इनकी बात क्यों की जाए। कोलॉयड दरअसल पदार्थ की एक अवस्था होती है। लगभग किसी भी पदार्थ को इस अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है, बशर्ते कि सही परिस्थितियां निर्मित कर दी जाएं। मसलन साधारण नमक अर्थात् सोडियम क्लोराइड पानी में घुल जाता है। मगर एक अन्य विलायक बेंज़ीन में इसका कोलॉयडीय घोल प्राप्त हो जाता है। वैसे बेंज़ीन में नमक अघुलनशील है। इसलिए किसी पदार्थ को कोलॉयड कहना उचित नहीं है, ज़्यादा सही यह होगा कि हम 'कोलॉयडीय तंत्र' शब्द का प्रयोग करें। नमक और बेंज़ीन एक कोलॉयडीय तंत्र बनाते हैं – नमक कोलॉयडीय पदार्थ नहीं है।

कोलॉयडीय अवस्था का अध्ययन करना इसलिए महत्व रखता है क्योंकि प्रकृति में तमाम कोलॉयडीय तंत्र मिलते हैं। इनके व्यवहार को कोलॉयडीय रसायन के तहत समझा जा सकता है। दूसरी ओर कई सारी औद्योगिक प्रक्रियाएं और कई सारे उत्पाद भी कोलॉयडीय अवस्था में ही होते हैं।

हम देख ही चुके हैं कि सामान्यतः कोलॉयडीय तंत्र रखे-रखे अवक्षेपण या स्कंदन का शिकार होते रहते हैं। मसलन ऑइल पेंट प्रायः कोलॉयडीय होते हैं। कई दवाइयां भी कोलॉयडीय अवस्था में मिलती हैं। इन्हें स्थिरता प्रदान करना एक अहम मुद्दा होता है। इस तरह के अध्ययन कोलॉयडीय रसायन के अंतर्गत किए जाते हैं। दूध पाउडर को इस तरह बनाना कि पानी में डालने पर वह पुनः कोलॉयडीय अवस्था में आ जाए, एक टेढ़ा मसला है। ऐसे कई उदाहरण हैं जहां कोलॉयडीय अवस्था का अध्ययन काम आता है।

सुशील जोशी: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम तथा स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। साथ ही स्वतंत्र विज्ञान लेखन व अनुवाद करते हैं।

एक दिन कक्षा में . . . .

काजल कुमार नंदी

हायर सेकेंडरी कक्षा में एक शिक्षक ने कुछ नया करने की ठानी, लेकिन यह नयापन किसी योजनाबद्ध तरीके से पहले से सोचा गया नहीं था। बस कक्षा के माहौल को देखते हुए अपनी समझ के अनुसार वह अपने प्रयोग को दिशा देता चला गया।

यूं तो प्राथमिक शिक्षा में काफी नवाचार होते रहे हैं परन्तु हाई स्कूल या हायर सेकेंडरी स्तर पर बहुत कम प्रयोग दिखाई देते हैं; जबकि इस अवस्था में भी विद्यार्थियों को सटीक मार्गदर्शन की बेहद ज़रूरत होती है।

इसी संदर्भ में अक्सर सोचता हूं कि क्यों न शिक्षा के हर क्षेत्र में छात्र केन्द्री तरीके अपनाए जाएं। परन्तु जब भी मैं शिक्षक बन्धुओं से इस संबंध में चर्चा करता हूं तो स्वाध्याय की कमी, बढ़ती नकल प्रवृत्ति, कक्षा में अरुचि का माहौल, अनुशासनहीनता जैसी बातें उभरकर सामने आती हैं; जिनकी वजह से कुछ नया करने में यकीन रखने वाले शिक्षक भी बनी-बनाई परिपाटी पर चलते रहते हैं।

वैसे मैं व्यक्तिगत तौर पर उन शिक्षकों का अध्यापन अधिक पसंद करता हूं जो प्रयोगधर्मी हैं – जिससे सृजनात्मकता की सम्भावनाएं अपने आप बढ़ जाती हैं।

लीक से हटने की कोशिश

एक दिन मैं कक्षा में ऐसे ही कुछ सोच रहा था कि कुछ सूझा। यकीन मानिए यह सूझ अकस्मात उपज थी, कोई प्री-प्लानिंग नहीं। उस दिन यूनिट टेस्ट होने वाले थे। मैं टेस्ट लेने की पुरानी पद्धति से छुटकारा पाना चाहता था, साथ ही शिक्षक बंधुओं से चर्चा

के उपरान्त उभरकर आई समस्याओं को भी कम करना चाहता था। मुझे जैसे-जैसे उपाय सूझता गया वैसे-वैसे प्रयोग करता गया। विद्यार्थी टेस्ट देने के लिए तैयार बैठे थे, पर सभी के चेहरे पर एक डर था, कक्षा में तनाव का वातावरण था। मैंने अपने आप से सवाल किया – क्या आखिर शिक्षा का यही उद्देश्य है।

कक्षा थी इंटर, विषय था एनीमल हस्बेण्ड्री एंड पोल्ट्री फार्म, विद्यार्थी संख्या-25, समय-40 मिनट, स्थान शासकीय इंटर कॉलेज, कल्याणपुरा, झाबुआ, म. प्र.। मैंने कक्षा से कहा – "आप तनाव बिल्कुल न रखें, आप सभी स्वतंत्र हैं। आप चाहे तो अपनी सुविधानुसार बैठ सकते हैं।" यह कहना था कि कक्षा में एक विद्युतीय परिवर्तन आया, कुछ हलचल होने लगी। मुझे लगा कि इससे अन्य कक्षाएं डिस्टर्ब होंगी। मैंने अभी भी नहीं सोचा कि मुझे आगे क्या करना है। हां, इतना तो मन बना ही लिया था कि आज कुछ नया करना है। मैंने कहा, "सभी एक-एक पेज निकालिए तथा अपनी पाठ्य-पुस्तक भी। आप सभी अपनी पुस्तक में से चार प्रश्न बनाकर लिखिए, अध्याय के पीछे दिए गए प्रश्न नहीं चलेंगे। प्रथम दो प्रश्न तीन-तीन अंक के, बाकी दो-दो अंक के बनाने हैं।" इतना कहते से ही सभी प्रफुल्लित हो गए।
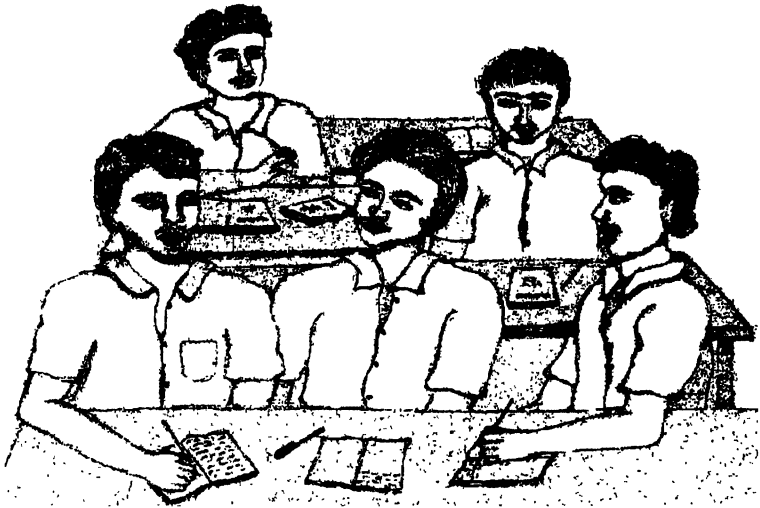
लड़कों ने प्रश्न-पत्र तैयार किए

तनाव का वातावरण मुस्कराहट में बदल गया। कक्षा में अरुचि रखने वाले छात्रों में भी परिवर्तन दिख रहा था। सभी अपनी किताबें खोलने लगे। मैं विद्यार्थियों की गतिविधियों का अवलोकन करने लगा। प्रश्न निर्माण की कल्पना जितनी सरल विद्यार्थियों ने सोची थी, शायद उसके विपरीत रही होगी; तभी तो कोई सिर खुजलाने लगा तो कोई शून्य की ओर ताकने लगा। आपस में बातें भी करने लगे। हां, मैं यहां बता देना चाहता हूं कि प्रश्न रचना में आपस में बातचीत करने की मैंने छूट दी थी। काफी हलचल, चिंतन, विचार-मंथन, संवाद के बाद आखिर सभी ने अपने-अपने प्रश्न-पत्र बना ही लिए। सभी ने तैयार प्रश्न-पत्र पर अपने-अपने रोल नंबर लिखकर मेरे पास जमा कर दिए।

प्रश्न-पत्रों को मैंने पढ़ा, काफी अच्छा लगा, विद्यार्थियों को भी अच्छा लगा। क्योंकि यह उनका मौलिक कार्य था। मैं अभी भी निश्चित तौर पर यह तय नहीं कर पाया था कि मुझे क्या करना है, बस परिस्थितिवश विचार आते गए और मैं उन्हें क्रियान्वित करता गया। उनके द्वारा बनाए गए प्रश्न-पत्रों में मुझे एक कमी लगी, जो विज्ञान विषय के लिए आवश्यक है – वह है चित्रकला कौशल से संबंधित प्रश्न।

अभी तक विद्यार्थियों की यही धारणा थी कि उन्हें स्वयं का ही प्रश्न-पत्र हल करने को मिलेगा। मैंने प्रश्न-पत्रों को अदल-बदल कर बांट दिया। सभी ने कहा, "यह तो मेरा बनाया प्रश्न-पत्र नहीं है।"

मैंने कहा, "कोई बात नहीं, जो प्रश्न-पत्र आपको मिला, उसे ही हल करना है। घबराने की कोई बात नहीं, मैं भी आप लोगों की मदद करूंगा। अपने-अपने प्रश्न पत्र में सबसे ऊपर एक प्रश्न और लिख लीजिए। यूनिट दो में से कोई भी एक नामांकित चित्र बनाइए? इस प्रश्न का कोई अंक नहीं, परन्तु हल न करने पर दो अंक कटेंगे। कुल दस अंक का टेस्ट है।" मैंने घड़ी की ओर देखा तो लगा कि समय कम पड़ेगा, इसलिए सोच लिया कि अवकाश का दस मिनिट का समय भी इस्तेमाल कर लेंगे।

फिर मैंने कहा, "चलिए मैं आप लोगों की मदद करता हूं। अपनी सारी कॉपियां और पुस्तकें नीचे रख दीजिए, केवल इस विषय की पाठ्य-पुस्तक कक्षा के बाहर रखनी होगी।"
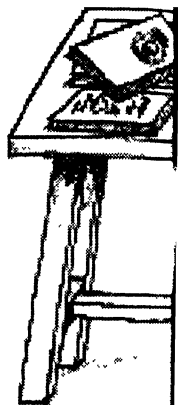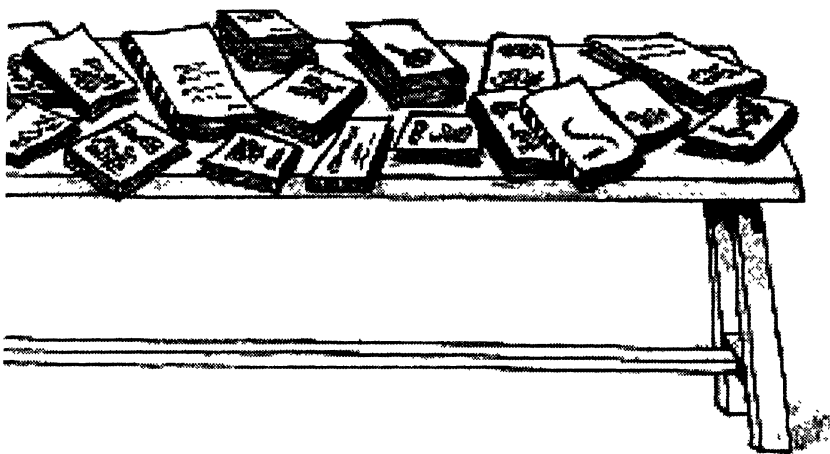
एक विद्यार्थी ने कहा, "बाहर कहां रखें?"

कुछ लड़कों की मदद से एक बेंच कक्षा के बाहर रख दी गई, जिस पर सभी ने अपनी किताबें रख दीं।

सशर्त खुली पुस्तक परीक्षा

"यदि आपको ऐसा लगता है कि प्रश्न हल करने में कठिनाई होगी, तो आप कक्षा के बाहर रखी अपनी पुस्तक देख सकते हैं। दो बार बाहर जाकर देखने की छूट है।" यह सुनते ही छात्रों में खुशी की लहर दौड़ पड़ी। फिर मैंने कहा, "बाहर रखी किताब दो बार से ज़्यादा भी देख सकते हैं; परन्तु एक शर्त है। दो बार से अधिक जितनी बार देखेंगे हर बार 2 अंक कम होते जाएंगे। जैसे कुल 4 बार देखेंगे तो अतिरिक्त दो बार के 4 अंक कम हो जाएंगे।" छात्रों ने कहा, "सर हमने कितनी बार देखा आपको कैसे पता चलेगा?" एक छात्र ने कहा, "एक-दूसरे पर नज़र रखेंगे।"

मैंने कहा, "फिर तो आप लोगों का सारा ध्यान निगरानी में ही बीत जाएगा। चलिए ऐसा करते हैं, जो जितनी बार बाहर जाएगा वह अपनी उत्तर पुस्तिका पर 1+1+1 ... करके लिखता जाएगा।" यहां शायद पाठक यह सवाल उठा सकते हैं कि क्या

विद्यार्थी सही लिखेंगे? मेरे विचार से विद्यार्थियों पर विश्वास करके तो देखा ही जा सकता है।

सभी अपनी कॉपियों में उत्तर लिखने लगे, अब मेरा काम सिर्फ छात्रों का अवलोकन करना ही रहा। कक्षा में कोई तनाव नहीं, डर नहीं, ताका-झांकी को रोकने के लिए टोकना नहीं, सब कुछ सामान्य। मुझे ऐसा लगा कि मेरा यह प्रयोग समस्याओं का समाधान करने के लिए अनुकूल है। मैं कुछ समय के लिए कक्षा से बाहर भी चला गया यानी 'शिक्षक विहीन परीक्षा कक्ष' — कितने आश्चर्य की बात है, है न! पर सच है। मैं कक्षा में आकर देखता हूं कि सभी विद्यार्थी सक्रिय रूप से गतिविधियों में भाग ले रहे हैं। जहां समस्या होती बाहर जाकर किताब देखकर आते, फिर लिखने लगते; कोई पूछने की ज़रूरत नहीं, कोई शोरगुल नहीं। हां, यह बता दूं कि शोरगुल एकदम थम गया। सभी प्रश्न हल करने में व्यस्त थे। पेंसिल केवल दो-तीन लड़के ही लाए थे। मुझे ऐसा लगा कि पेन्सिल को लेकर खींचा-तानी हो सकती है। मैंने छूट दे दी, पेन से भी चित्र बना सकते हैं; हालांकि पेंसिल से बनाना ज़्यादा न्यायसंगत है। पांच
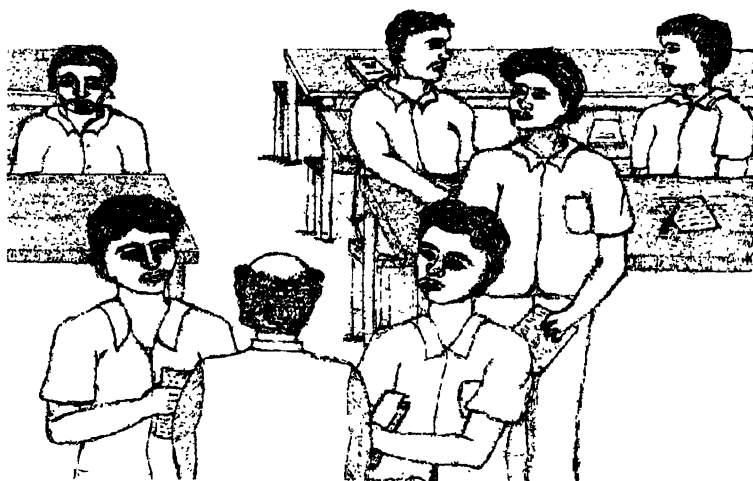
लड़के ऐसे थे जो एक भी बार बाहर नहीं गए, एक लड़का तीन बार गया। यह टेस्ट सम्पन्न हो गया। सभी ने प्रश्न-पत्रों को, टेस्ट पेपर से नत्थी कर जमा कर दिया।

इस तरह हुआ जांच-कार्य

मैं मध्यावकाश के समय प्रयोगशाला में चाय पीकर टेस्ट कॉपी जांचने वाला ही था कि मुझे एक विचार आया कि क्यों न जांचने का कार्य भी विद्यार्थी ही करें। दूसरे दिन कक्षा में सभी विद्यार्थी अपने प्राप्तांक जानने के लिए उत्सुक थे। मैंने कहा, "कॉपी नहीं जांची। जब आप लोगों ने प्रश्न-पत्र की रचना की है तो यह भी भली-भांति जानते होंगे कि कितना लिखने पर कितने अंक मिलना चाहिए।"

सभी एक साथ बोल पड़े, "सर, हम कैसे जांचेंगे।"

"चलिए इसमें भी मैं आप लोगों की मदद करता हूं। सभी अपनी-अपनी पाठ्य-पुस्तक खोल लीजिए, किताब देखते जाएं और जांचते जाएं।"

जिसने जो प्रश्न-पत्र बनाए थे मैंने उन्हें उसी की उत्तर पुस्तिका जांचने के लिए दी। इस प्रकार एक-दूसरे को कॉपी जांचने का कार्य सौंप दिया। मैंने कहा, "यदि आप नम्बर काटते हैं तो लिखेंगे कि क्यों काटा। प्रश्न का उत्तर जहां गलत होगा उस अंश को सही करके लिखेंगे, चित्र का नामांकन व बनावट अधूरी है तो उसे पूरा करेंगे।"

फिर प्रारम्भ हुआ टेस्ट कॉपी जांचने का सिलसिला और मैं कक्षा के अवलोकन एवं व्यवहार अध्ययन में जुट गया। कक्षा में एक ऐसा बौद्धिक एवं चिन्तन का वातावरण निर्मित हुआ कि सभी विद्यार्थी अपने कार्य को गंभीरतापूर्वक करने लगे। नंबर कितने मिलना चाहिए, काटा तो क्यों, चित्र सही नहीं, अक्षर सुधारो, नामांकन अधूरा है, बहुत सुन्दर है आदि स्थितियों से गुज़रते हुए आख़िर सभी ने सवालों की जांच कर ही ली।

मैंने सभी कॉपियों को एकत्र कर उन्हें छात्रों में बांटकर कहा, "जिसने जिसकी कॉपी जांची है उसके पास जाकर बैठ जाइए एवं आपस में विचार-विमर्श कीजिए।" सभी जांचने वाले रोल नंबर देखकर उनके पास चले गए।

मैंने अवलोकन में जो पाया वह बहुत ही सकारात्मक रहा, विद्यार्थी आपस में चर्चा में इतने व्यस्त थे कि मध्यावकाश कब समाप्त हो गया पता ही नहीं चला। और 'कितना लिखना था, ऐसे भी लिख सकते थे, ये क्यों नहीं लिखा, सही लिखा, तुमने क्यों बनाया, ये बहुत ही सुंदर चित्र है, हेण्डराईटिंग सुधारो, प्रश्न बहुत अच्छा है' आदि-आदि शब्दों से कक्षा में

सृजनात्मक गूंज उठने लगी। कुछ छात्रों ने तो नंबर बढ़ाने के लिए ज़िद भी की, तब किताब देखकर बढ़ाए गए। तुलना के लिए दूसरों के प्रश्न एवं कॉपी भी देखी गई। यही प्रयोग मैंने बायोलॉजी विषय में भी किए।

मैंने कक्षा में जो कुछ किया उसे हम चाहे तो 'चाइल्ड सेन्टर्ड एक्टिविटी बेस्ड एक्ज़ामिनेशन' कह सकते हैं। मैंने जो भी प्रयोग किया उसका अनुभव आप लोगों के साथ बांटा। चाहे तो आप भी इस तरह के प्रयोग कर सकते हैं। यह प्रयोग मां-बाप भी अपने बच्चों के साथ कर सकते हैं। इस प्रयोग के बाद मुझे ऐसा लगा कि सुरुचिपूर्ण तरीके से विभिन्न प्रकार की शैक्षिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। बस चाहिए थोड़ी-सी सृजनात्मकता और वह तो सभी शिक्षकों में होती है।

काजल कुमार नन्दी: झाबुआ ज़िले में बतौर शिक्षक सेवारत हैं। विज्ञान शिक्षा एवं भील जनजाति में शिक्षा पर अनेक प्रयोग तथा होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम पर शोध-प्रबंध।

रेखांकन: मृणाल पुरोहित: फाइन आर्ट में डिप्लोमा, होशंगाबाद में निवास।

चुम्बक इतिहास के आइने में

लॉयड विलियम टेलर एवं फोरेस्ट ग्लेन टकर

चित्र: रंजीत बालमुचु

चुम्बक और लोहे के बीच आकर्षण की बात से हम बखूबी वाकिफ हैं। यह बात हमारे लिए इतनी साधारण है कि हम भूल जाते हैं कि इस आकर्षण की वजह के बारे में हम आज भी लगभग उतना ही जानते हैं जितना प्राचीन लोग जानते थे। जब स्टील की कोई नालनुमा छड़ किसी लोहे के टुकड़े को खींचती है तो हम कहते हैं कि छड़ चुम्बकीय है। इससे आगे हम नहीं सोचते। इस मामले में हम अपने 2500 साल पूर्व के पुरखों से काफी पीछे हैं क्योंकि वे इस आकर्षण के बारे में काफी सोच-विचार करते थे।

निश्चित तौर पर यह कह पाना मुश्किल है कि चुम्बकीय आकर्षण का सबसे पहला अवलोकन कहां व किसने किया था। यह कहना स्वाभाविक भी है और सही भी लगता है कि ऐसा अवलोकन लौह युग की शुरुआत के बाद हुआ होगा क्योंकि जब लोहे का ही पता नहीं था तो उससे आकर्षण का सवाल ही पैदा नहीं होता।

लिहाज़ा हम उस दौर की बात कर रहे हैं जहां तारीखें निर्धारित करना बहुत मुश्किल होता है।

शुरुआती परम्पराएं

प्राचीन यूनानी पाण्डुलिपियों में घुमक्कड़ फ्रिजियन खदान फोड़ने वालों व लोहारों (जिन्हें कैबिरी कहा जाता था) के कुछ चमत्कारों का ज़िक्र आता है। ये लोग उस समय सेमोथ्रेस के इर्द-गिर्द रहा करते थे। इन लोगों की पारलौकिक शक्तियों का एक प्रमाण यह था कि ये लौह अयस्क (जिसे हम लोडस्टोन कहते हैं) के एक टुकड़े से लोहे के कई छल्लों को चिपकाने में समर्थ थे। ये छल्ले एक के नीचे एक लटक जाते थे जबकि इनको जोड़कर रखने वाली कोई चीज़ नज़र नहीं आती थी। सेमोथ्रेस के इन छल्लों के बारे में बकौल प्लेटो सुकरात ने कहा था (अपने दोस्त इऑन की वाक्पटुता की तारीफ में):

"तुम्हारे अंदर उस पत्थर के समान दिव्यता है जिसे युरिपिडीज़ चुम्बक (मेग्नेट) कहता है। यह पत्थर न सिर्फ लोहे के छल्लों को आकर्षित कर लेता है बल्कि उन छल्लों में ऐसी शक्ति भर देता है कि वे और छल्लों को आकर्षित कर लें। और इन सभी (छल्लों) को यह शक्ति मूल पत्थर से मिलती है।

इसी प्रकार से म्यूज़ (संगीत की देवी) पहले मनुष्यों को प्रेरित करती है और इन मनुष्यों से अन्य मनुष्यों को प्रेरणा मिलती है।''

प्लेटो ने सेमोथ्रेसियन छल्लों का ज़िक्र सर्वप्रथम ईसा पूर्व चौथी सदी में किया था और इसके बाद के साहित्य में इनका ज़िक्र बार-बार आता है। कैबिरी, जिन्होंने सबसे पहले इन छल्लों को बनाया व प्रदर्शित किया था, धीरे-धीरे मिथकीय परम्परा में धरती के अंदर रहने वाले बौनों के रूप में स्थान पा गए। दरअसल ये लोग खदानों से लोहा निकालकर बर्तन और आभूषण बनाने का काम करते थे। ग्रिम ने अपनी कहानी 'स्नोव्हाइट एण्ड सेवन ड्वार्फ्स' के ज़रिए कैबिरी लोगों को अमर कर दिया। इस कहानी को बाद में वॉल्ट डिज़नी ने भी प्रस्तुत किया।

'मैग्नेट' शब्द की उत्पत्ति

'मैग्नेट' शब्द की उत्पत्ति को लेकर कई अटकलें लगाई गई हैं। 'प्लाइनी' की कहानी के मुताबिक लोडस्टोन की खोज 'मेग्नस' नाम के एक चरवाहे ने की थी। उसके जूतों में कीलें लगी हुई थीं। जब उसके जूतों पर तथा लोहे की टोपी वाले डंडे पर एक रहस्यमयी खिंचाव महसूस हुआ, तो उसने छानबीन करते हुए लोडस्टोन खोज निकाला। यह कहानी संदिग्ध लगती है। ज़्यादा सम्भावना इस बात की है कि 'मैग्नेट' शब्द मैग्नीशिया से बना है। लुक्रिशियस के अनुसार लोडस्टोन की खोज मैग्नीशिया नामक स्थान से हुई थी।

अंग्रेज़ी नाम की अपेक्षा चुम्बक के स्पैनिश व फ्रेंच नाम ज़्यादा गुण-वाचक हैं – *ला'आइमान्ट* और *आइमान* इनका अर्थ होता है प्रेमी पत्थर। सियामीज़, चीनी व संस्कृत में जो शब्द हैं वे तो और भी विशिष्ट हैं क्योंकि उनसे यह पता चलता है कि इस पत्थर का प्रेम सिर्फ लोहे से है।

प्राचीन लोग लोडस्टोन के लोहे के प्रति आकर्षण को अत्यंत महत्वपूर्ण मानते थे। ऊपर दिए गए उद्धरण में प्लेटो ने प्रतिभा की तुलना चुम्बकीय गुण से की है। इसके बाद के तमाम लेखक लगभग दो हज़ार वर्षों तक मानते रहे कि चुम्बकीय आकर्षण का ताल्लुक किसी यांत्रिक नहीं बल्कि आध्यात्मिक विश्व से है।

यदि दो वस्तुएं छू रही हों और उनके बीच बल लग रहा हो, तो कोई अचरज की बात नहीं थी। मगर दूर-दूर रखी चीज़ों के बीच, बगैर किसी प्रकट जुड़ाव के, बल लगे तो मामला ही बदल जाता है। और इस तरह के रहस्यमय प्रस्तुतिकरण में हैरत जैसी कोई बात नहीं है। गुरुत्वाकर्षण की अवधारणा के विकास से पूर्व यह मानने का कोई आधार भी नहीं था कि दूर-

दूर स्थित चीज़ों के बीच बल लगना कोई अपवाद नहीं बल्कि सार्वभौमिक नियम है।

चुम्बकत्त्व के प्रथम अवलोकन

जिस प्रथम दार्शनिक ने चुम्बकीय बल पर संजीदगी से गौर किया वह एशिया माइनर के प्राचीन शहर मिलेटस का निवासी था। वह एक चलती-फिरती दंतकथा के समान था और अवश्य ही असाधारण व्यक्ति रहा होगा। उसका नाम था थेल्स। वह सातवीं व छठी सदी ईसा पूर्व में कभी हुआ। उसकी सारी रचनाएं (यदि रही हों तो) लुप्त हो चुकी हैं और उसके बारे में हम जो कुछ भी जानते हैं वे उसके टीकाकारों के माध्यम से ही जानते हैं। अलबत्ता हर युग के रचनाकारों ने थेल्स को दर्शन का जनक माना है। थेल्स का मत था कि गति करना अथवा अन्य वस्तुओं में गति उत्पन्न कर पाना अपने आप में इस बात का प्रमाण था कि उस वस्तु में आत्मा है। लिहाज़ा, बकौल अरस्तू, थेल्स का विचार था, *"चुम्बक में आत्मा होती है क्योंकि वह लोहे में गति उत्पन्न कर देता है।"*

यह एक नया व सर्वथा मौलिक विचार था। हमें लगता है उससे ज़्यादा। थेल्स के समय तक (और उसके बाद भी काफी समय तक) चुम्बकीय क्रिया को जादू की श्रेणी में रखा जाता था। ऐसे मामलों में सामान्य व्यक्ति सोच भी नहीं सकता था वरना ईश्वरीय कोप का सामना करना पड़ सकता था। किन्तु यदि चुम्बक में इंसानों व पशुओं की तरह, आत्मा का वास है तो अलग बात है। अपने या अन्य किसी के असबाब (संपत्ति, जायदाद) के बारे में विचार करना उतना बड़ा पाप नहीं है। लिहाज़ा चुम्बकत्व वह पहली कुदरती परिघटना थी जिसकी खोजबीन संभव थी। तद्नुसार इसने वैज्ञानिक विचारों को पहली प्रेरणा दी। वैसे यह विचार अगले तेईस सौ सालों तक परवान नहीं चढ़ने वाला था।

चुम्बकीय आकर्षण की व्याख्या

पहला सवाल तो यही था कि यह चुम्बकीय आकर्षण होता कैसे है; इसकी क्रियाविधि क्या है? इस सवाल का पूछा जाना ही अपने आप में महत्वपूर्ण था। हमें तो शायद यह एक स्वाभाविक व अपरिहार्य-सा सवाल लगेगा किन्तु प्राचीन लोगों के लिए तो यही विचार सम्भावनाओं से भरपूर था कि आप एक यांत्रिक व्याख्या की तलाश कर सकते हैं या कोई यांत्रिक हल व्याख्या का काम कर सकता है। बहरहाल इन सम्भावनाओं के साकार होने में अभी कई सदियां बीत जानी थीं।

अलबत्ता, इस नए रवैये के जो फल प्राप्त हुए थे, वे बीसवीं सदी की कसौटी पर, बहुत ज्ञानवर्धक नहीं कहे जा सकते। कुछ शुरुआती व्याख्याएं तो

आज हवाई किले जैसी लगती हैं। एपिक्यूरियस (342-270 ईसा पूर्व) का कहना था:

"लोडस्टोन या चुम्बक लोहे को इसलिए आकर्षित करता है क्योंकि इससे (लोडस्टोन से) निरंतर बहने वाले कण, जो कि सभी पदार्थों से बहते रहते हैं, लोहे से बहने वाले कणों के साथ विशेष समरूपता रखते हैं और टकराने के बाद वे आसानी से जुड़ जाते हैं।"

लुक्रेशियस (99-55 ईसा पूर्व) कहता है:

"इसके अलावा यह भी मुमकिन है
कि कुछ चीज़ें
परस्पर चिपकती हैं, जुड़ी हुई और
गुंथी हुईं
गोया छल्लों और हुकों से, जो लगता
है कि
शायद लोहे और इस पत्थर के साथ
भी होता है।"

लुक्रेशियस ने रासायनिक क्रियाओं के दौरान परमाणुओं के जुड़ने की व्याख्या भी इसी आधार पर की थी।

प्लूटार्क (46-120 ईस्वी) ने यह कल्पना की थी कि, *"चुम्बक के इर्द-गिर्द एक प्रभामण्डल होता है। इस प्रभामण्डल के कणों का आकार लोहे की सतह पर मौजूद छिद्रों से मिलता-जुलता होता है। अतः लोहा चुम्बक को बहुत अच्छी तरह जकड़ लेता है जैसा और कोई पदार्थ नहीं कर सकता।"*

लगभग पंद्रह सौ साल बाद देकार्ते ने इस विचार को ही यह कहकर आगे बढ़ाया कि, *"चुम्बक की सतह पर पेंच-ही-पेंच होते हैं जो लगातार घूमते रहते हैं। ये पेंच लोहे में मौजूद चूड़ीदार छेदों में कसकर फिट हो जाते हैं।"*

तीसरी ईस्वी सदी के एक चीनी दार्शनिक कूफो ने चुम्बकत्व की तुलना स्थिर वैद्युतिक आकर्षण से की थी:

"चुम्बक लोहे को ठीक उसी तरह आकर्षित करता है, जैसे आबनूस सरसों के बीजों को. . . यह समझ से परे है।"

चौथी ईस्वी सदी में क्लॉडियन ने कहा कि लोहा चुम्बक को जीवन देता है और उसका पोषण करता है; लिहाज़ा जिस तरह से पशु भोजन की तलाश करते हैं उसी तरह चुम्बक लोहे की खोज में रहता है। यह विचार चुम्बकीय साहित्य में बार-बार उभरता है।

तेरहवीं सदी के पेरेग्रिनस ने सादृश्य की एक विचित्र परिकल्पना का सहारा लिया। इस परिकल्पना में वस्तुओं के बीच आकर्षण के भौतिक बल तथा उनके बीच अन्य समानताओं का जुड़ाव देखा गया। सम्भवतः यह परिकल्पना प्लूटार्क से प्रेरित थी। बहरहाल, पेरेग्रिनस के बारे में हम आगे और चर्चा करेंगे।

प्लाइनी को चुम्बक के उस गुण का पूर्वाभास था, जिसके आधार पर

चुम्बक के स्पैनिश व फ्रेंच नाम बने हैं। उसने चुम्बक की क्रिया की व्याख्या इन लफ्ज़ों में की:

"चुम्बक के समीप आते ही धातु इसकी ओर लपकती है और उसे जकड़ लेती है तथा स्वयं उसके आलिंगन में कस जाती है।"

सोलहवीं सदी में कॉर्नेलियस गेमा ने चुम्बक व आकर्षित वस्तु के बीच लचीली रेखाओं की कल्पना की थी। उन्नीसवीं सदी में इस अवधारणा का भरपूर उपयोग किया गया। हालांकि यह असंतोषप्रद है किन्तु आज तक हम इससे बहुत आगे नहीं बढ़े हैं।

किसी ने कहा है कि विज्ञान के विकास के लिहाज़ से एक घटिया सिद्धांत किसी सिद्धांत के न होने से बेहतर है। दरअसल विज्ञान के इतिहास से पता चलता है कि सही सिद्धांतों की तुलना में गलत सिद्धांतों ने विज्ञान की प्रगति में ज़्यादा योगदान दिया है। बताते हैं कि एडीसन ने अपने एक सहायक को इस बात पर झिड़का था कि वह अनगिनत असफल कोशिशों में ज़ाया मेहनत पर शिकायत कर रहा था। एडीसन ने उसे कहा था कि अब वह कम-से-कम यह जानता है कि कौन-सी दो हज़ार चीज़ें काम नहीं करेंगी, कारगर नहीं होंगी।

हो सकता है कि हम चुम्बकत्व के कुछ सिद्धांतों पर अपनी हंसी रोक न सकें मगर इसी प्रकार निर्लिप्त भाव से उन वैज्ञानिक सिद्धांतों को देखना भी ज्ञानवर्धक होगा, जो आज प्रचलित हैं। कोई भी सिद्धांत यदि सोच को उकसाता है तो वह एक अच्छा सिद्धांत है, चाहे अन्त में उसे सामान्य स्वीकृति से अनुमोदित किया जाए या न किया जाए।

लोडस्टोन को लेकर सबसे अड़ियल विश्वास यह रहा कि यदि इस पर लहसुन का तेल पोत दिया जाए तो इसकी चुम्बकीय क्रिया समाप्त हो जाती है। प्रयोगों के द्वारा बार-बार गलत साबित किए जाने के बावजूद इस विश्वास में कुछ ऐसी बात थी कि यह पंद्रह सौ साल तक प्रचलित रहा। इस विश्वास की उत्पत्ति कहां से हुई, पता नहीं है। मगर एक संभव व्याख्या यह है कि इस गलतफहमी की शुरुआत प्लाइनी से हुई थी। प्लाइनी ने *एलियो* (अन्य) लिखा था और इसकी नकल करने में गलती से यह *एल्लियो* (लहसून) हो गया। यह घटना वैसे तो कोई महत्व नहीं रखती किन्तु इसने दिशासूचक यंत्र के ईजाद का सही काल निर्धारित करने में मदद की है।

चुम्बकीय विकर्षण

चुम्बकीय क्रिया का यह एक ऐसा पक्ष था जिसका पता तो बहुत समय से था मगर जिस पर ज़ोर नहीं दिया गया था। वह पक्ष था चुम्बकीय

विकर्षण। यदि इसे पर्याप्त महत्व मिलता तो उपरोक्त कई सारे सिद्धांत तुरंत निरस्त हो जाते। संभवतः लुक्रेशियस ने ही सबसे पहले चुम्बकीय विकर्षण का अवलोकन किया था। उसने लिखाः

"ऐसा भी वक्त होता है जब लोहा,
इस पत्थर से दूर जाता है
भागना चाहता है
और इसका पीछा करना चाहता है।
मैंने तो देखा है,
तांबे के पात्र के अंदर रखे
सेमोथ्रेसियन छल्लों को नाचते,
लोहे की छीलन को उछलते,
जब यह चुम्बक पत्थर पात्र के नीचे
लाया जाता है,
इतना आतुर होता है लोहा
चुम्बक से दूर भागने को।"

यह एक नया अवलोकन था किन्तु इसके महत्व को चौदह सौ सालों तक नहीं पहचाना गया। इस प्रभाव को चुम्बकों में दो विपरीत ध्रुवों की उपस्थिति की अवधारणा से जोड़कर नहीं देखा गया था। कल्पना यह की गई थी कि लोडस्टोन दो किस्म के होते हैं – एक लोहे को आकर्षित करने वाला और दूसरा विकर्षित करने वाला। प्लाइनी ने दूसरे किस्म के लोडस्टोन को 'थिएमाइड्स' कहा था और बताया था कि यह इथियोपिया में मिलता है। ऐसे पदार्थ के अस्तित्व की बात तेरहवीं सदी तक प्रचलित रही।

आज हर स्कूली छात्र जानता है कि चुम्बक के दो सिरे होते हैं जिनके चुम्बकीय गुण कुछ मायनों में एक-दूसरे के विपरीत होते हैं। इन दो सिरों को आमतौर पर ध्रुव कहा जाता है। ध्रुव यानी Pole शब्द विलियम गिल्बर्ट ने 1600 ईस्वी में दिया। आज यह आम जानकारी की बात है कि असमान ध्रुव एक-दूसरे को आकर्षित करते हैं तथा समान ध्रुव परस्पर विकर्षण दर्शाते हैं। परन्तु ध्रुवों के अलग-अलग जोड़ों के बीच व्यवहार में अंतर की बात ज़्यादा पुरानी नहीं है। इसका पहला ज़िक्र रॉजर बेकन द्वारा तेरहवीं सदी के मध्य में लिखी गई किताब 'ओपस माइनर' में मिलता हैः

"यदि लोहे को चुम्बक के उत्तरी भाग से स्पर्श किया जाए, तो लोहा जहां भी वह भाग जाए वहां जाता है; .... और फिर यदि चुम्बक का विपरीत हिस्सा लोहे के स्पर्शित हिस्से के पास लाया जाए तो लोहा उससे दूर भागता है।"

यह सही है कि इस कथन में चुम्बकीय विकर्षण की बात स्पष्ट रूप में कही गई है मगर इससे चुम्बकीय ध्रुवीयता की एक पूर्ण और स्पष्ट छवि नहीं बनती। दरअसल इस कथन के साथ बेकन ने जो टिप्पणियां की थीं, वे गलत थीं। अलबत्ता बेकन ने ध्रुवीयता की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम तो उठाया ही।

दिशासूचक का शुरुआती इतिहास

परन्तु आधुनिक व्यक्ति की नज़र में चुम्बक का सबसे महत्वपूर्ण (उपयोगी) गुण यह है कि चुम्बक लटकाए जाने पर (जब क्षैतिज दिशा में घूमने को स्वतंत्र हो) उत्तर-दक्षिण दिशा में स्थिर हो जाता है। यह दिशासूचक की क्रिया है। हालांकि इसे चुम्बकीय आकर्षण व विकर्षण से जुड़ा माना जाता है किन्तु वास्तव में यह काफी अलग चीज़ है। चुम्बकीय आकर्षण व विकर्षण, बलों का खेल है जबकि चुम्बकीय घूर्णन बल-घूर्ण (Torque) का मामला है। जब बल व बल-घूर्ण के बीच अंतर स्पष्ट हुआ था, तब मेकेनिक्स विज्ञान में काफ़ी स्पष्टता आई थी। चुम्बकत्व के इतिहास ने इस अंतर को रेखांकित किया।

सौभाग्यवश, चुम्बक के व्यवहार के इन दो पहलुओं का विकास एक-दूसरे से कमोबेश स्वतंत्र हुआ। दिशासूचक या इसका कोई आदि-रूप पश्चिम की बजाय पूर्व में पहले दिखाई पड़ता है। परन्तु समुद्री यात्रा में इस यंत्र का उपयोग यकीनन यूरोप में पहले किया गया। ईस्वी सन् 121 में रचित एक चीनी शब्दकोश में विस्तार से बताया गया है कि दक्षिण की ओर इंगित करने का गुण लोहे में कैसे पैदा किया जाता है। इसमें यह भी बताया गया है कि एक पत्थर के उपयोग से सुई में यह गुण उत्पन्न किया जा सकता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि प्राचीन रचनाकार अपने द्वारा वर्णित यंत्रों के विस्तृत विवरण को ज़रूरी नहीं समझते थे। यदि ऐसा होता, तो हमें पता चलता कि वैज्ञानिक युग की जड़ें अतीत में कहीं ज़्यादा गहरी हैं।

ऐसा लगता है कि शुरुआत में चीन में इसका उपयोग भू-शकुन ज्ञानी और जादूगर किया करते थे। वैसे हो सकता है कि इसका उपयोग यात्री तातार में अपने अभियानों के लिए भी करते रहे हों। इस बात का कोई प्रामाणिक रिकॉर्ड नहीं है कि पश्चिम से पहले चीन वासियों ने इस यंत्र का उपयोग नौवहन में किया हो। इस तरह के इस्तेमाल के बारे में सर्वप्रथम चीनी विवरण 1086 से 1099 ईस्वी के बीच मिलता है जब यह कहा जाता है कि कैन्टन व सुमात्रा के बीच विदेशी नाविक इसका उपयोग करते हैं।

पश्चिम में दिशासूचक का उपयोग

आज यह कहना बहुत मुश्किल है कि पश्चिम में सबसे पहले नाविक दिशासूचक का उपयोग कब और कहां हुआ। इतना ही कहा जा सकता है कि जब साहित्य में दिशासूचक प्रकट हुआ (12वीं सदी के अंतिम वर्षों में) तब तक इसका उपयोग काफी सामान्य हो चुका था। एलेक्ज़ेण्डर नेकहैम (1157-1217) ने पैरिस में 1180 से
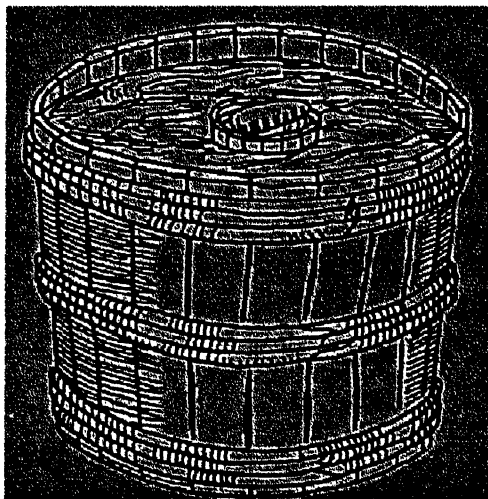
शुरुआती कम्पास का सन् 1562 में बनाया गया एक चित्र। एक बड़े से पानी भरे ड्रम में एक कटोरीनुमा बर्तन तैर रहा है। इस कटोरी में चुम्बक रखा है ताकि वह स्वतंत्र रूप से घूम पाए।

1186 के दरम्यान अपने व्याख्यानों में इसका ज़िक्र किया था और यह ज़िक्र दिशासूचक में सुधार के सुझाव का था। नेकहैम ने बारहवीं सदी के अंत या तेरहवीं सदी की शुरुआत में लिखी गई अपनी पुस्तक 'डी यूटेन्सिलिबस' में दिशासूचक को जहाज़ पर एक अनिवार्य यंत्र के रूप में दर्शाया था। इसके पश्चात् दिशासूचक का ज़िक्र तेरहवीं सदी के मध्य में ब्रुनेटो लातिनी (दान्ते के गुरु) ने किया। मगर रोचक बात यह है कि लातिनी ने दिशासूचक के एक अपेक्षाकृत पुराने व अनगढ़ रूप की बात की है। यह ज़िक्र उसने रॉजर बेकन से मुलाकात के बाद एक पत्र में किया:

"उसने (रॉजर बेकन ने) मुझे चुम्बक दिखाया, जो एक भद्दा काला पत्थर होता है तथा लोहा इससे स्वत: ही चिपक जाता है। वे इस पत्थर को एक सुई से छुआते हैं, फिर इस सुई को एक तिनके में घुसाकर पानी पर तैरा देते हैं। इस सुई की नोक ध्रुव तारे की ओर घूम जाती है। यदि रात अंधेरी हो, तारे न दिखते हों, न चांद, तो इसकी मदद से जहाज़ी सही रास्ता पता कर सकते हैं।"

परंतु इससे पहले ही दिशासूचक इतना प्रचलित हो गया था कि इसे तत्कालीन समुद्री आचार संहिता में कानूनी रूप से शामिल कर लिया गया था। बारहवीं सदी के अंतिम दौर की एक ऐसी आचार संहिता में व्यवस्था की गई थी कि यदि कोई जहाज़ी दिशासूचक के साथ छेड़छाड़ करे तो

उसे कठोर दण्ड दिया जाए। एक अन्य संहिता में ऐसे अपराध के दोषी जहाज़ी की *"यदि जान बख़्श दी जाए, तो वह जिस हाथ का ज़्यादा इस्तेमाल करता हो, उसे एक चाकू घुसेड़कर मस्तूल से या लकड़ी के किसी अन्य लट्ठे से इस तरह चिपका दिया जाए कि वह हाथ चीरकर ही मुक्त हो सके।"*

यहां यह बात गौरतलब है कि उस समय दिशासूचक का इस्तेमाल तभी किया जाता था जब दिशा पता करने के अन्य सारे तरीके नाकाम रहते थे। हर मर्तबा उपयोग करने से पहले इसे चुम्बकित किया जाता था क्योंकि स्टील के स्थायी चुम्बकों का ज़माना अभी छः सौ साल दूर था।

एक मुश्किल और थी। यह विश्वास तो प्रचलित था ही, कि लहसून से चुम्बकीय गुण नष्ट हो जाता है और समस्या यह थी कि लहसून भोजन का एक आम हिस्सा था। इसलिए लोडस्टोन की हिफाज़त के लिए जवाबदेह लोग बहुत चौकन्ने रहते थे। इसके लिए भी नियम बनाए गए थे, जिनसे पता

बारहवीं सदी में प्रचलित समुद्री आचार संहिता में कहा गया था कि यदि कोई नाविक दिशा सूचक के साथ छेड़छाड़ करे तो उसे कठोर दंड दिया जाए। उसका हाथ मस्तूल या किसी लकड़ी के लट्ठे पर रखकर हाथ में चाकू घुसा दिया जाए। 16 वीं सदी में बनाए गए इस चित्र में कुछ ऐसे ही सज़ायाफ्ता नाविकों को दिखाया गया है।

चलता है कि दिशासूचक का उपयोग 12 वीं सदी के अंत में काफी प्रचलित था। वैसे तो दिशासूचक के 'आविष्कारक' के संबंध में दावे तो कई किए गए हैं मगर प्रामाणिक तौर पर इतना ही कहा जा सकता है कि इस यंत्र का सबसे पहले उपयोग कब शुरू हुआ होगा।

पेरेग्राइन का खत, *डी मेग्नेट*

सन् 1229 में चुम्बक के विषय में एक ग्रंथ लिखा गया। इसके रचनाकाल को देखते हुए कहा जा सकता है कि यह इस विषय पर लिखा गया सबसे उल्लेखनीय ग्रंथ है। ऐसा प्रतीत होता है कि उस वर्ष रॉजर बेकन के एक अंतरंग मित्र व सहयोगी पीटर पेरेग्राइन से एक मित्र ने चुम्बक के विषय में पूछताछ की। इसका जवाब पेरेग्राइन ने अपने विख्यात 'एपिस्टोला डी मेग्नेट' में दिया था। जवाब पाने वाले ने शायद समझा कि यह जानकारी गोपनीय है। लिहाज़ा इस पत्र का मजमून तो दूर, इसे लिखे जाने की बात भी तीन सौ सालों तक अज्ञात रही। जब इसकी प्रति मिली तब भी अगले तीन सौ सालों तक इसके लेखक को लेकर विवाद रहा। हाल ही में लेखक की पहचान असंदिग्ध रूप से हो पाई है। पेरेग्राइन का यह खत 13 अध्यायों में बंटा हुआ है। इस पत्र की सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि (ध्यान दें कि पत्र तेरहवीं सदी में लिखा गया था।) पेरेग्राइन इस बात पर ज़ोर देता है कि यदि कोई चुम्बक के गुणों को समझना चाहता है, तो उसके पास प्रयोग करने का हुनर ज़रूर होना चाहिए। पेरेग्राइन कहता है कि खोजी को —

"स्वयं हस्तकला में भी दक्ष होना चाहिए ताकि वह इस पत्थर की क्रियाओं से इसके आश्चर्यजनक प्रभाव को समझ सके। क्योंकि अपनी सतर्कता से वह जल्दी ही उन त्रुटियों को सुधार लेगा जो यदि उसमें अपने हाथों के उपयोग का हुनर नहीं है तो शायद वह प्रकृति व गणित के अपने ज्ञान के आधार पर बरसों में नहीं सुधार पाएगा। क्योंकि वैज्ञानिक क्रियाओं में हम काफी कुछ हाथों के उद्यम से खोजते हैं, इसके बगैर हम कुछ भी संपूर्ण या निर्दोष नहीं बना सकते।"

सम्भवत: विज्ञान में प्रभावी प्रयोगों की भूमिका व प्रकृति के संबंध में यह प्रथम ज्ञात वक्तव्य है।

चुम्बकीय ध्रुवीयता और पेरेग्राइन

इसके बाद पेरेग्राइन चुम्बकीय ध्रुवीयता के संबंध में प्रथम स्पष्ट वक्तव्य देता है। वह यह भी बताता है कि यदि लोडस्टोन के एक टुकड़े को तोड़ा जाए तो आप पाएंगे कि टूटी हुई सतहों पर असमान ध्रुव उत्पन्न हो जाते हैं। पेरेग्राइन का वक्तव्य रॉजर

बेकन द्वारा कुछ ही वर्षों पहले प्रस्तुत कथन से हर मायने में आगे है – सिवाय एक के। वह यह कि समान ध्रुवों के बीच विकर्षण होता है – इतनी पैनी निगाह वाले व्यक्ति के लिहाज़ से इसे अनदेखा करना अचरज की बात है।

पेरेग्राइन यह भी बताता है कि "एक चुम्बक के इर्द-गिर्द, जिन्हें हम चुम्बकीय रेखाएं कहते हैं, कैसे खींची जाएं।" दरअसल बल रेखाओं का विचार ही आगामी विकास का पूर्वाभास कहा जा सकता है। इसी के आधार पर तीन शताब्दी पश्चात् कॉर्नेलियस गेमा चुम्बकीय आकर्षण की क्रियाविधि समझाने वाले थे। इन रेखाओं को प्रत्यक्ष देखने का एक आम तरीका यह है कि लोहे का बुरादा चुम्बक के आसपास फैलाया जाए। यह बुरादा एक पैटर्न में जम जाता है जिसे हम कहते हैं कि यह इन काल्पनिक रेखाओं का प्रदर्शन है। इसके अलावा दिशासूचक की सुई भी इन रेखाओं की स्पर्श रेखा (टेन्जेन्ट) की दिशा में स्थिर हो जाती है। पेरेग्राइन ने इसी सिद्धांत का उपयोग किया था। तरीके का वर्णन वह इन शब्दों में करता है:

"एक सुई को पत्थर (लोडस्टोन) पर रख दीजिए, लोहे की लंबाई के समानांतर। अब एक रेखा खींचिए। इसके बाद सुई को पत्थर पर किसी अन्य जगह पर रखें और इसकी स्थिति के अनुसार पत्थर पर एक और रेखा खींच दें। और यदि आप चाहें, तो ऐसा पत्थर पर कई जगहों पर कीजिए। और निःसंदेह ये सभी रेखाएं दो बिन्दुओं पर मिलेंगी, जिस तरह से सारी देशांतर रेखाएं धरती के दो विपरीत ध्रुवों पर मिलती हैं। इससे आपको पता चल जाएगा कि एक उत्तर है और दूसरा दक्षिण।"

इसका महत्व दोहरा है। आज की तरह उस समय यह बात मानकर काम नहीं चल सकता था कि चुम्बक (चाहे छड़ हो या नाल) के दो ध्रुव उसके दो सिरों पर होते हैं। पेरेग्राइन के ज़माने में चुम्बक दरअसल लोडस्टोन के आड़े-तिरछे टुकड़े हुआ करते थे। और जब लोडस्टोन को आकार देना शुरू हुआ तब भी उसे छड़ का नहीं बल्कि गोले का आकार दिया गया। स्वयं पेरेग्राइन ने गोलाकार चुम्बक बनाया था और फिर एक चुम्बकित सुई की मदद से उसके ध्रुव पता किए थे। छड़ चुम्बक के बनने में अभी 130 साल का वक्त था। (तब तक चुम्बकीय सुई ज़रूर बन चुकी थी जो दरअसल में एक छड़ चुम्बक ही है – पर उसे उस स्वरूप में पहचाना नहीं गया।)

चुम्बकीय क्षेत्रः पेरेग्राइन के विचार

परन्तु पेरेग्राइन के विवरण की ज़्यादा दूरगामी महत्व की बात चुम्बक
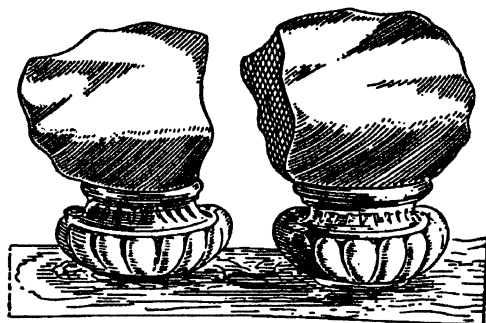
यदि लोड स्टोन को तोड़ा जाए तो टूटी हुई सतह पर नया ध्रुव बनता है इस तथ्य को दिखाता हुआ सन् 1629 का चित्र। पेरेग्राइन ने तो यह भी बताया था कि टूटी हुई सतह पर विपरीत ध्रुव बनते हैं।

पेरेग्राइन के अनुसार लोड स्टोन के इर्द-गिर्द फैली चुम्बकीय बल रेखाओं को पता करने का एक आसान तरीका है: लोड स्टोन के चारों ओर लोहे का बुरादा छिड़का जाए। बुरादा एक निश्चित पैटर्न में जम जाता है। यह चित्र लगभग तीन सौ साल बाद 1629 में बनाया गया।
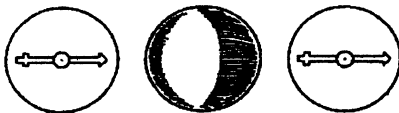
चुम्बक के इर्द-गिर्द विभिन्न स्थानों पर रखी गई चुम्बकीय सुई की स्थिति कैसे होगी उसके बारे में पेरेग्राइन की

के इर्द-गिर्द बल रेखाओं की उपस्थिति का विचार था। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि बल क्षेत्र की अवधारणा चुम्बकत्व व विद्युत के पूरे सिद्धांत के विकास में सबसे सशक्त रणनीति रही है। पेरेग्राइन इस अवधारणा की सम्भावनाओं को समझ पाने की स्थिति में तो नहीं था किन्तु उसने इस अवधारणा को एक ठोस अवलोकन की बुनियाद देकर इसे वैज्ञानिक रूप से निहायत उपयोगी ज़रूर बना दिया। तेरह सौ साल पहले लुक्रेशियस ने चुम्बक के निकट लोहे की छीलन में हरकत की बात कही थी तथा पेरेग्राइन से कुछ वर्ष पूर्व किसी इतालवी कवि ने अटकल लगाई थी कि लोडस्टोन व लोहे के बीच मौजूद हवा आकर्षण में कुछ भूमिका अदा करती है। परन्तु इनका कोई वैज्ञानिक महत्व नहीं था। पेरेग्राइन ने इस विचार को निश्चित रूप दिया तथा ध्रुवीयता व बल क्षेत्र के बीच संबंध स्थापित किया। इसकी बदौलत आगे का काम संभव हुआ जो वाकई विद्युतीय सिद्धांत की जान है।
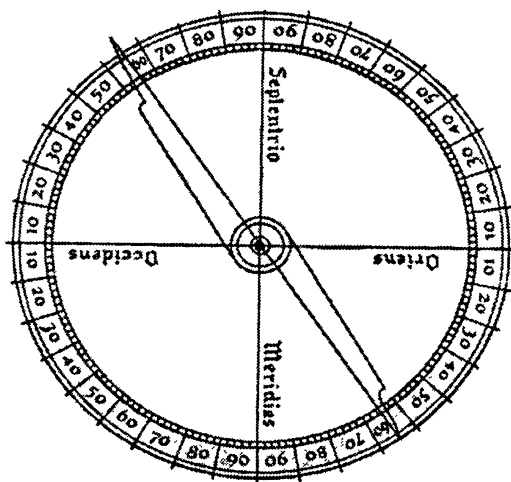
धुरी पर टिकी चुम्बकीय सुई का पहला चित्रण जो आज हमारे पास है। पेरेग्राइन द्वारा 1269 में लिखी गई 'एपिस्टोला डी मेग्नेट' में यह चित्र बनाया गया है।

पेरेग्राइन की दिशासूचक सुई

पेरेग्राइन के ग्रंथ में ही हमें धुरी पर टिकी सुई वाले दिशासूचक का प्रथम विवरण व चित्र मिलता है। नेकहैम ने करीब दो पीढ़ी पूर्व ही इस यंत्र का ज़िक्र किया था और संभवतः इस दरम्यान इसका व्यापक उपयोग होने लगा था। अलबत्ता पेरेग्राइन ने ही पहली बार इसे बनाने की विधि तथा इसका चित्र प्रस्तुत किया।

गोया हमें यह याद दिलाने के लिए कि वह तेरहवीं सदी का बाशिन्दा है, पेरेग्राइन ने 'एपिस्टोला डी मेग्नेट' का समापन एक चुम्बकीय शाश्वत गतिशील मशीन के विवरण से किया है। पेरेग्राइन को लगता था कि यदि उसकी चुम्बकीय गेंद को ठीक से धुरी पर टिकाकर संतुलित कर दिया जाए, तो वह प्रत्येक चौबीस घंटे में एक बार घूमेगा, जैसे कि चुम्बकीय ब्रह्माण्ड गोल घूमता है। इस मशीन का एकमात्र उपयोग, पेरेग्राइन के हिसाब से घड़ी के रूप में था। पेरेग्राइन ने यह भी चेतावनी दी थी कि पहली कोशिश असफल रहने की आशंका है (क्या वह अपने अनुभव से कह रहा था) — "इसे (नाकामी को) प्रकृति का नहीं, अपनी कुशलता का दोष मानना।"

इस कमज़ोर चेतावनी के साथ ही विज्ञान का यह महत्वपूर्ण दस्तावेज़ समाप्त हो जाता है। इसके बाद पेरेग्राइन के बारे में कुछ नहीं सुना गया।

(शेष अगले अंक में जारी)

लॉयड विलियम टेलर व फोरेस्ट ग्लेन टकर द्वारा सर्वप्रथम यह लेख 'फिज़िक्स — द पायोनियर साइंस' में सन् 1944 में प्रकाशित किया गया। मौजूदा लेख टचस्टोन पब्लिशिंग कम्पनी द्वारा 1972 में प्रकाशित, 'द रियल्म ऑफ साइंस' के खंड 8 से साभार अनुदित।

अनुवादः सुशील जोशीः एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम तथा स्रोत फीचर सेवा से संबद्ध। साथ ही स्वतंत्र विज्ञान लेखन व अनुवाद करते हैं।

रियल्म ऑफ साइंस में कुल 20 खंड हैं। इन खंड़ों में प्रकाशित सामग्री को पांच प्रमुख समूहों में बांटा गया है : द नेचर ऑफ साइंस, द नेचर ऑफ मैटर एंड एनर्जी, द नेचर ऑफ स्पेस, द नेचर ऑफ अर्थ एन्वायरनमेंट और द नेचर ऑफ लाइफ।

संदर्भ सजिल्द संस्करण

हर जिल्द में हैं:

भौतिकी, रसायन, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र,
प्राणी व्यवहार, सूक्ष्मजैविकी, गणित, इतिहास,
भूगोल-भूविज्ञान, वैज्ञानिकों की जीवनियां,
पढ़ाने के तरीके, बच्चों के साथ अनुभव,
प्रयोग-मॉडल एवं गतिविधियां,
सर्वे रिपोर्ट, कहानियां, पहेलियां
और
सवालीराम के सवाल-जवाब

संदर्भ अंक 1-6, 7-12, 13-18 और 19-25 के सजिल्द संस्करण उपलब्ध हैं। इनके साथ है प्रकाशित अंकों का विषयवार इंडेक्स।

प्रत्येक का डाक-खर्च सहित मूल्य 65 रु.।

राशि डिमांड ड्राफ्ट या मनीऑर्डर से भेजें।
ड्राफ्ट एकलव्य के नाम से बनवाएं।
अधिक जानकारी के लिए सम्पर्क करें।

एकलव्य
कोठी बाज़ार
होशंगाबाद, म. प्र, 461001
फोन: 07574 - 53518

एकलव्य
ई - 1/25, अरेरा कॉलोनी
भोपाल - 462016
ई - मेल: eklavyamp@vsnl.com

बच्चों की भाषा सीखने की क्षमता

रमाकांत अग्निहोत्री

हिन्दी की वर्तनी व्यवस्था भी बेहद जटिल है। ऐसी स्थिति में अध्यापक का क्या रोल होना चाहिए?

देवनागरी के मानकीकरण के प्रयास निरंतर होते रहे हैं और इसके साथ-साथ देवनागरी लिपि सिखाने के तरीकों का भी मानकीकरण होता रहा है। आखिर हिन्दी राजभाषा है (ध्यान दें, राज्यभाषा नहीं है संविधान के अनुसार) और भारत सरकार ने समय-समय पर इसकी लिपि व वर्तनी में एकरूपता लाने के लिए विविध स्तरों पर प्रयास किए हैं। 1966 में शिक्षा मंत्रालय ने 'मानक देवनागरी वर्णमाला' प्रकाशित की। 1967 में 'हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण' पुस्तिका छपी, और 1989 में केंद्रीय हिन्दी निदेशालय ने 'देवनागरी लिपि तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण' नामक पुस्तिका में 'मानक हिन्दी

वर्णमाला, मानक हिन्दी वर्तनी, परिवर्धित देवनागरी वर्णमाला तथा संख्यावाचक शब्दों' को एक साथ छापा। इसकी प्रस्तावना में केंद्रीय हिन्दी निदेशालय के निदेशक ने पेज 3-4 पर लिखा है:

"प्रायः देखा गया है कि हिन्दी लिखते समय लोग देवनागरी वर्णमाला में प्रयुक्त वर्णों, शिरोरेखा और मात्राओं की लिखावट में एक निश्चित दिशा-पद्धति का निर्वाह नहीं करते। प्रारंभिक शालाओं में इसकी ओर ध्यान नहीं दिया जाता। द्वितीय भाषा के रूप में हिन्दी सिखाते समय तो इस प्रसंग पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। इसलिए 'हिन्दी वर्णमाला : लेखन विधि' इसमें दी जा रही है।'''

इस लेखन विधि में 'स' लिखना ऐसे सिखाया गया है:

ı २ ऱ स

लेकिन उसको ऐसे लिखने में क्या आपत्ति है:

ा न य स

या उन हज़ारों अन्य तरीकों से जिनसे 'स' लिखा जा सकता है। हर बच्चा अपनी इच्छानुसार अपना लिखने का तरीका बनाए इससे किसी को कोई आपत्ति क्यों होगी? अंततः वास्तव में होता तो ऐसा ही है। शायद ही कोई दो व्यक्ति हों जिनकी लिखावट बिल्कुल एक ही जैसी हो। क्यों पठन-पाठन का इतना मूल्यवान समय हम ऐसी बेकार गतिविधियों में गंवाते हैं? क्या लिखावट में सरलता व प्रयत्न-लाघवता का कोई वैज्ञानिक पैमाना हो सकता है?

वर्तनी की कठिनाइयां

यह सच है कि हिन्दी की वर्णमाला व वर्तनी सीखना कोई आसान काम नहीं। वास्तव में यह बात हर भाषा को लिखने-पढ़ने के बारे में सच है। हिन्दी के विषय में अधिक कठिनाई इसलिए आती है कि लोग इस भाषा को बहुत वैज्ञानिक समझते हैं; एवं ऐसा मानते हैं कि यह भाषा बच्चे के लिए बहुत सरल होनी चाहिए। फिर जब बच्चे निरंतर गलतियां करते हैं तो मां-बाप व अध्यापक झुंझलाते हैं। हिन्दी लिखने का देवनागरी में जिस तरह मानकीकरण हुआ है उसकी वैज्ञानिकता व सरलता दोनों पर प्रश्न चिह्न हैं। बच्चों को न सिर्फ व्यंजन व स्वर वर्ण सीखने होते हैं, बल्कि उन्हें निम्न मात्राएं भी सीखनी होती हैं।

ा ि ी ु ृ े ै ो ौ

और अक्सर साथ ही हल्-चिह्न (्) और काफी जगह देवनागरी अंक।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ ०

शायद देवनागरी में ही ऐसा होता है कि एक ही वर्ण के कई रूप होते हैं और उसे चारों तरफ से बदला जा

सकता है। उदाहरण के लिए 'क' को देखिए: 'क', 'क्', 'क', 'कि', 'की', 'कु', 'कू', 'के', 'को', 'कं' आदि और फिर 'क्ष' में भी 'क्'। दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे हर तरफ कुछ न कुछ जोड़ने की संभावना। रोमन लिपि में ऐसा कुछ नहीं। दाईं तरफ को बराबर लिखते जाइए, बस। 'कि' में 'इ' की मात्रा लिखी पहले जाती है, पर बोली बाद में जाती है। अध्यापक अक्सर कहते हैं — देवनागरी सरल है, जैसा बोलो, वैसा लिखो। हिन्दी लिखने में यह बात सदा सार्थक नहीं होती। बच्चे बहुत-सी गलतियां मात्राओं के प्रयोग में करते हैं। सच बात यह है कि आज की हिन्दी में 'इ' और 'ई' व 'उ' और 'ऊ' में कोई विशेष अंतर नहीं रहा है। इसलिए बच्चे वही लिखते हैं जो सुनते हैं। यह बात 'ऋ' व 'श' और 'ष' के प्रयोग से और भी स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत में 'ऋ' एक स्वर-ध्वनि थी। हिन्दी वर्णमाला में इसे लिखा तो स्वरों में जाता है पर इसका उच्चारण है 'रि' यानी 'व्यंजन (र्) + स्वर (इ)'। (गुजरात, महाराष्ट्र व दक्षिण भारत में इसका उच्चारण 'रू' जैसा है।) जब 'ऋ' व्यंजनों के बाद आती है तो उच्चारण कई बार 'र' हो जाता है जैसे 'कृपा' का 'क्रपा', 'नृप' का 'न्रप' आदि। इसी प्रकार 'श' व 'ष' में किसी समय अंतर रहा होगा, लेकिन अब नहीं है। अब यही कहकर समझाना पड़ता है कि 'पेट कटा 'ष' लिखो', या षट्कोण वाला 'ष' — शक्कर वाला 'श' नहीं आदि। इस परिस्थिति में यदि बच्चे:

ऋषि को रिशि,
विष को विश,
ऋतु को रितु,
कोष को कोश

आदि लिखें तो उनका क्या दोष? उन्हें तो सही लिखने के लिए सराहना मिलनी चाहिए; लेकिन उन्हें तो सदैव गलत लिखने के लिए डांट पड़ती है।

जैसा बोलो वैसे लिखो?

इसी प्रकार आपको अनेक ऐसे शब्द मिल जाएंगे जिनमें इ-ई, उ-ऊ, ए-ऐ या ओ-औ में अंतर साफ़ नहीं है। क्या 'भक्ति' की 'इ' उतनी ही छोटी है जितनी की 'कि' या 'कवि' की या फिर लगभग उतनी ही लंबी है जितनी की 'की' या 'घी' की। आप 'पेन' बोलते हैं या 'पैन'; 'भोंकना', 'भौंकना' या 'भूंकना'। उच्चारण वास्तव में अनेक हैं लेकिन लेखन मानकीकृत एकरूप। बच्चे गलती करें तो दोष उनका। वास्तव में सही लिपि सिखाने का नियम यह हो ही नहीं सकता कि 'जैसे बोलो, वैसे लिखो।' वर्तनी में सिखाने वाली बात ही यह कि, बोला जाएगा 'रिशि' लेकिन लिखना है 'ऋषि'। बच्चे को यह सिखाना है कि 'ऋतु', 'ऋषभ',

'ऋण', 'ऋषि' आदि कुछ ऐसे शब्द हैं जिनमें 'रि' को 'ऋ' लिखना है। इसी प्रकार 'श' और 'ष' के बारे में। वर्तनी के जो नियम तर्कसंगत हैं वे तो बच्चा खुद ही आत्मसात कर लेगा। 'क्ष', 'त्र', 'ज्ञ' और 'श्र' के संबंध में बच्चों को यह समझने में कोई परेशानी नहीं होती कि इनमें दो-दो व्यंजन शामिल हैं। हां, यदि आप 'कक्षा' को 'कच्छा' बोलते हैं और बच्चा आपके बोलने पर वही लिखता है जो आप बोलते हैं तो आपको क्या करना चाहिए यह आप ही जानिए!
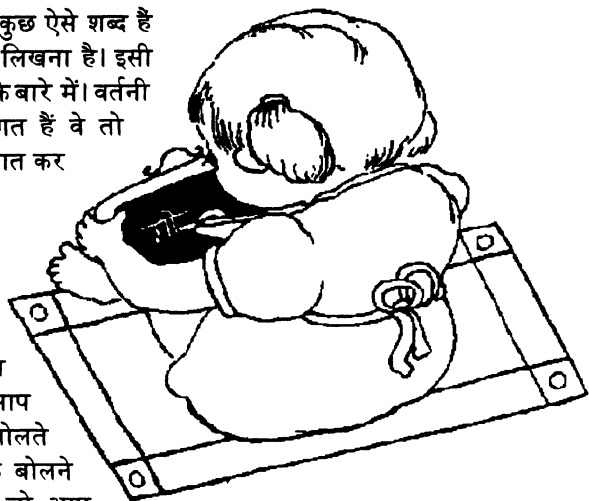
'ड़' और 'ढ़' हिन्दी वर्णमाला में कई बार अलग से लिखे जाते हैं। आजकल तो 'ट वर्ग' के साथ ही लिख देते हैं। इनकी भी अपनी कहानी है।

अधिकतर शब्दों के शुरू में 'ड' व 'ढ' ध्वनि का प्रयोग होता था व दो स्वरों के बीच 'ड़' व 'ढ़' यथा डर, डाल, खड्ड, ढाल, ढक्कन आदि; व स्वरों के मध्य में लड़का, घड़ा, बड़ा, पढ़ाई, चढ़ाई आदि। पर संस्कृत, फारसी व अंग्रेज़ी के अनेक शब्दों पर यह नियम नहीं जमा जैसे – निडर, डालडा, सोडा, रेडियो, झंडा आदि। ध्वनि संरचना की दृष्टि से चारों ध्वनियां महत्वपूर्ण हैं। पैर में कहां बिन्दी लगेगी एवं कहां नहीं, इसका कोई नियम नहीं है। अगर आप 'रेड़ियो' बोलते हैं तो बच्चा शायद वही लिखेगा।

क़, ख़, ग़ ज़ और फ़

जिन ध्वनियों के लिए वर्णमाला में क़, ख़, ग़, ज़ और फ़ रखे गए हैं उनकी कहानी तो और भी जटिल है। क्या आप क़यामत, क़साई, नक़द, नक़ल, अख़बार, ख़बर, ख़ाकी, ख़ानदानी, तारीख़, शराबख़ाना, काग़ज़, नग़मा, सुराग़, सौग़ात, ज़ख्म, ज़मानत, ज़मींदार, फ़र्ज़, नज़ारा, फ़रवरी, फ़कीर, फ़सल, मुफ़्त, माफ़ी, लिफ़ाफ़ा आदि को हिन्दी के शब्द मानते हैं, और क्या आप चाहते हैं कि इनका

उच्चारण भी संस्कृत से आए शब्दों जैसा शुद्ध हो?

साफ है इस बात का उत्तर इस पर निर्भर करेगा कि आपकी हिन्दी की परिभाषा क्या है? काफी प्रयत्न हुए हैं इन शब्दों को हिन्दी से निकाल फेंकने के। रही सही कसर छपाई की मजबूरियों ने निकाल दी। 'क़' और 'ग़' के बारे में तो मानकीकरण करने वाली संस्थाओं ने मान ही लिया है कि वे हिन्दी के 'क' और 'ग' में घुल-मिल गए हैं - तो 'कसाई', 'कागज़' बोलिए और वैसा ही लिखिए। और "...'ख़' लगभग हिन्दी 'ख' में खपने की प्रक्रिया में है और शेष दो (ज़, फ़) धीरे-धीरे अपना अस्तित्व खोने/बनाए रखने के लिए संघर्षरत हैं" (पृष्ठ 13, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, 1989) आप अध्यापक हैं या माता-पिता हैं - आप ही निर्णय लें कि आप किस तरफ संघर्ष करना चाहते हैं।

चंद्रबिन्दु की स्थिति

यह तो स्पष्ट हो ही गया होगा कि कब कौन-सी ध्वनि किस भाषा की कहलाएगी और उसको लिखने के लिए कौन-सा वर्ण वर्णमाला में रखा जाएगा, यह निर्णय राजनैतिक है। खैर छपाई की राजनीति ने काम काफी सरल कर दिया है: 'ड़' और 'ढ़' को छोड़कर शायद ही आपको किसी वर्ण के नीचे बिन्दी दिखाई दे। चंद्रबिन्दु भी आपको कहीं दिखाई नहीं देगा। और कई जगह तो पूर्ण-विराम की जगह आपको फुल-स्टॉप ही देखने को मिलेगा। 'ख' अब 'ख' लिखा जाता है, सोचिए क्यों? आखिर 'रव' के साथ भ्रम होने का प्रश्न आज ही तो न उठा होगा?

केवल भ्रम से बचने के लिए ही ध्वनि या वर्णों का लेखा-जोखा नहीं होता। आखिर

ताक	ताक़
हंस	हँस
खाना	ख़ाना
राज	राज़
बाग	बाग़
सजा	सज़ा
फन	फ़न

आदि में काफ़ी अंतर है। यदि ँ व 'क़', 'ख़', 'ज़' 'ग़' 'फ़' को निकाल दिया जाए तो काफ़ी गुंजाइश बन जाती है शब्दों के अर्थ में भ्रम की।

"किंतु जहां चंद्रबिन्दु के प्रयोग से छपाई आदि में बहुत कठिनाई हो और चंद्रबिन्दु के स्थान पर बिंदु का प्रयोग किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न करे, वहां चंद्रबिंदु के स्थान पर बिंदु के प्रयोग की छूट दी जा सकती है" (पेज 13, केंद्रीय हिंदी निदेशालय, 1989) अंग्रेज़ी के शब्द सही लिखने के लिए वर्णमाला में कुछ जोड़ना भी पड़े तो चलेगा। चंद्रबिन्दु तो हटा दिया, लेकिन वृतमुखी (ॅ) जोड़ दिया यथा हॉल, डॉक्टर, कॉलिज आदि।

वर्तनी के दोहरे प्रचलन

बड़ी ही जटिल व्यवस्था है वर्तनी के नियमों की। संयुक्त-वर्ण कैसे लिखे जाएंगे; हलन्त का क्या औचित्य है? 'श्रीमान्', 'महान्' लिखें या 'श्रीमान', 'महान' या दोनों ही चलने दें। 'र' को आपने 'ऋ' व 'श्र' में देखा।

और भी कई समस्याएं सुलझानी हैं पांच-छः साल के बच्चे को जो हिन्दी की लिपि सीख रहा है। स्वरों का रूप कहां 'आ', 'इ', 'ई' आदि होगा और कहां इन्हें मात्राओं से दिखाया जाएगा; 'गयी' सही है या 'गई' या दोनों; 'द्वितीय' सही है या 'द्‌वितीय' या 'द्‍वितीय'; 'कुत्ता' सही है या 'कुत्‌ता' या 'कुत्ता'। विभक्ति-चिह्न सर्वनाम के साथ लिखें या नहीं - 'आपके लिए' लेकिन 'आप ही के लिए'। 'ऐ' और 'औ' का क्या-क्या उच्चारण हो सकता है – 'कैसा', 'गवैया', 'और', 'कौवा'।

वर्तनी की जटिलता के कुछ और उदाहरण देखिए:

रम
मर
आरती
क्रम, भ्रम, द्रव्य, ग्राम
ट्रक, ट्रेन, ड्रम, ड्रामा
गर्म, धर्म, शर्म, कर्म

क्या 'रम' का 'र' वही है जो 'मर या आरती' में है? हर बच्चा 'जानता' है कि 'मर' व 'आरती' का 'र' स्वर-रहित है; 'रम' के 'र' में 'अ' है। देखने व लिखने में लेकिन बराबर।

'र' पैर में या सिर पर तब जाता है जब संयुक्त व्यंजनों का हिस्सा होता है। संयुक्त व्यंजनों में यदि पहला 'र्' है तो सिर पर जैसे – 'गर्म'; यदि दूसरा 'र' है तो पैर में जैसे – 'क्रम'; और यदि दूसरा 'ट' वर्ग के साथ है तो रूप ऐसा जैसा कि 'ट्रक' में है। आखिर यह जटिल नियम कौन जानता है; कौन बच्चों को सिखाता है? लेकिन हर बच्चा स्वयं लिखित सामग्री से यह नियम बना लेता है।

'क्रम' व 'कर्म' में बच्चे गलती नहीं करते। शायद ही कोई बच्चा हो जो 'ग्राम' को 'गार्म' लिखे। हां, यह तो हम लोग खुद ही नहीं जानते कि 'गरदन' सही है या 'गर्दन'; 'गरम' या 'गर्म'; 'सरदी' या 'सर्दी'; 'कुरसी' या 'कुर्सी'; 'बरतन' या 'बर्तन'।

सच बहुत ही जटिल है वर्तनी व्यवस्था। कहीं-कहीं तो बहुत साफ़ नियम हैं। चेतन स्तर पर अक्सर ये नियम हमें मालूम नहीं होते। लेकिन हर हिन्दी पढ़ने-लिखने वाला व्यक्ति ये नियम स्वयं अलग-अलग रास्तों से बना लेता है। लेकिन बहुत कुछ ऐसा भी है जिसका कोई तर्क संगत आधार नहीं। दोनों परिस्थितियों में बच्चे को खुद सीखना है और उसमें सीखने की

क्षमता है। ध्वनि-व्यवस्था लिपि व्यवस्था से कहीं अधिक जटिल है। और वहां तो कुछ ऐसा भी नहीं जो स्थाई हो। स्वाभाविक प्रश्न है — अध्यापक का क्या रोल है? यही कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया को समझें, बच्चे की क्षमता को समझें और बच्चे को अधिक-से-अधिक रुचिकर सामग्री दें।

रमाकांत अग्निहोत्री: दिल्ली विश्वविद्यालय के कला संकाय में भाषा विज्ञान पढ़ाते हैं। एकलव्य के प्राथमिक शिक्षा कार्यक्रम से शुरुआत से जुड़ाव।
चित्र: माधुरी पुरंदरे। माधुरी पुरंदरे पूना में रहती हैं।

इस लेख के लिए निम्न पुस्तकें संदर्भित की गई हैं:

1. *देवनागरी लिपि तथा हिन्दी वर्तनी का मानकीकरण*, 1989, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, मानव संसाधन विकास मंत्रालय, नई दिल्ली।
2. *मानक हिन्दी का स्वरूप*, भोलानाथ तिवारी, 1996, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली।
3. *देवनागरी लेखन तथा वर्तनी व्यवस्था*, लक्ष्मी नारायण शर्मा, 1976, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा।

भूल सुधार: संदर्भ के पिछले अंक में 'बच्चों की भाषा सीखने की क्षमता' लेख में पेज 11 पर दूसरे स्तंभ के दूसरे पैरे का शुरुआती वाक्य कुछ इस तरह था: "व्यंजन-स्वर, स्वर-व्यंजन का क्रम बना रहे, यानी दो स्वर या दो व्यंजन साथ-साथ आएं इस व्यवस्था के लिए अलग-अलग भाषाएं अलग-अलग प्रावधान करती हैं।"

इस वाक्य में 'न' छूटा था, वाक्य इस तरह होना चाहिए था:

"व्यंजन-स्वर, स्वर-व्यंजन का क्रम बना रहे, यानी दो स्वर या दो व्यंजन साथ-साथ न आएं इस व्यवस्था के लिए अलग-अलग भाषाएं अलग-अलग प्रावधान करती हैं।"

इस भूल के लिए हमें खेद है।

— सपादक मडल

ज़रा सिर तो खुजलाइए

पिछले अंक में आपसे सवाल पूछा गया था कि छह समान लम्बाई की सरल रेखाओं की मदद से आठ त्रिभुज बनाने हैं। बस शर्त यह थी कि बनाया गया प्रत्येक त्रिभुज अपने-आप में एक समबाहु त्रिभुज हो।

इस सवाल का यह हल हमने सवाल के साथ ही सुझाया था।

किसी दूसरे तरीके से सवाल का हल खोजना था आपको।

इस सवाल का एक सही हल संपद महापात्रा, पुरी, उड़ीसा ने भेजा है। उनके द्वारा दिया गया हल इस प्रकार है:
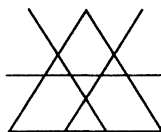
इस सवाल का एक और सही हल जो हमें मालूम था।
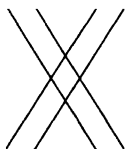
कोशिश कीजिए, शायद और भी हल हों इस पहेली के!

इस बार का सवाल:

किसी भी वृत की परिधि को आधा करके अगर उसे उसके अर्धव्यास से गुणा कर दें तो हमें वृत का क्षेत्रफल मिल जाता है। वृत के सूत्र के आधार पर तो तुरन्त समझ में आता है कि ऐसा क्यों है; इस बार का सवाल है कि तर्क के आधार पर समझाइए कि इन दो राशियों को गुणा करने पर हमें वृत का क्षेत्रफल कैसे मिल जाता है। जवाब संदर्भ के पते पर भेजें।

सिंथेटिक मिल्क
यानी
नकली अथवा कृत्रिम दूध

अम्लान दास

कुछ समय से दूध खबरों में छाया रहा है। एक के बाद एक कई शहरों से खबरें आईं कि गाय-भैंस के दूध की बजाए नकली दूध बनाकर बेचा जा रहा है, या फिर इस नकली दूध को असली दूध में मिलाकर इस बात से अनभिज्ञ लोगों को ठगा जा रहा है।

वैसे तो दूध में मिलावट की परम्परा का लंबा इतिहास है। सबसे सामान्य और व्यापक मिलावट तो गाय-भैंस के दूध में पानी मिलाकर उसकी मात्रा बढ़ाना है। इस मिलावट की खासियत यही है कि उपभोक्ता को लूटा ज़रूर जा रहा है परन्तु पानी मिले दूध का सेवन करने वाले के स्वास्थ्य को कोई नुकसान नहीं पहुंचता। दूध को टिकाऊ बनाने के लिए भी उसमें तरह-तरह के रसायन मिलाए जाते हैं।

दूध में अगर पानी मिला हो तो बर्तन में उड़ेलते वक्त या गर्म करने पर मलाई की मात्रा आदि से पता चल जाता है। बारीकी से जांच करनी हो तो लेक्टोमीटर का इस्तेमाल करते हैं। दूध बिना खराब हुए ज़्यादा समय तक टिका रहे इसलिए जब भी रसायन मिलाए जाते हैं तो इस बात का विशेष ख्याल रखा जाता है कि केवल ऐसे पदार्थ मिलाए जाएं जिनसे शरीर को नुकसान न पहुंचे।

परन्तु इस मायने में 'सिंथेटिक यानी कृत्रिम' दूध का मामला एकदम फर्क है। कृत्रिम दूध बनने का पता शायद सबसे पहले उत्तर भारत के कुरुक्षेत्र

कृत्रिम दूध का फॉर्मूला

कृत्रिम दूध का फॉर्मूला तथा इसे बनाने का तरीका कुछ साल पहले एक अखबार 'ट्रिब्यून' में छपा था।

नल का पानी	50 प्रतिशत
यूरिया	10 प्रतिशत
कॉस्टिक सोड़ा	5 प्रतिशत
कपड़े धोने का सोड़ा	5 प्रतिशत
सोयाबीन तेल	5 प्रतिशत
लवण/शक्कर	5 प्रतिशत
स्किम्ड दूध (क्रीम निकाला हुआ दूध)	10 प्रतिशत
ग्लूकोज़ पाउडर	10 प्रतिशत

बताई गई मात्रा में यूरिया, कॉस्टिक सोड़ा, लवण, शक्कर एवं ग्लूकोज़ पाउडर एक बर्तन में लेकर बहुत अच्छी तरह मिश्रण बनाने के बाद उसमें नल का पानी मिलाया जाता है। उसके बाद सोयाबीन तेल एवं दूध पाउडर डाला जाता है। इस तरह कृत्रिम दूध तैयार हो जाता है। गाय-भैंस के दूध के घटकों से तुलना करने पर आप पाएंगे कि इस कृत्रिम दूध में असली दूध में पाए जाने वाले पदार्थों में से एक भी पदार्थ नहीं है।

में लगा। इसके बाद कई अन्य स्थानों जैसे – हिमाचल प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश एवं मध्यप्रदेश से भी ऐसी ही खबरें आने लगीं। आइए देखें कि दरअसल ये 'नकली दूध' है क्या और कैसे बनता है यह।

सिंथेटिक दूध

यूरिया, कॉस्टिक सोड़ा, तेल, शक्कर आदि को पानी में घोलने से दूध जैसा दूधिया तरल बनता है और फिर यह जल्दी न बिगड़े इसलिए इसमें कई रसायन मिलाए जाते हैं। असली दूध जैसा ही दिखता है यह, इसलिए इसे गाय-भैंस के दूध में मिलाकर बेचा जाता है। यह मिलावट दूध में पानी मिलाने से कहीं ज़्यादा खतरनाक है क्योंकि इस किस्म के मिलावटी दूध के लगातार सेवन से शारीरिक विकास में बाधा, आंखों की रोशनी जाना, पेट में अल्सर, कैंसर और नपुंसकता जैसी कई व्याधियां हो सकती हैं।

वास्तव में देखा जाए तो कृत्रिम दूध नामकरण ही गलत है। इस से

ऐसा लगता है कि असली दूध न सही परंतु लगभग असली दूध जैसा ही होगा (दूध पाउडर जैसा ही कुछ)। यानी कि इसके भौतिक, रासायनिक व पौष्टिक गुण कुछ हद तक असली दूध के समान होंगे। लेकिन कृत्रिम दूध का पशुओं से मिलने वाले दूध से कोई संबंध नहीं है। इसलिए इसे 'सिंथेटिक मिल्क' या नकली दूध कहना कहीं बेहतर होगा।

शुद्ध दूध में लगभग 3.5 प्रतिशत वसा होता है जिसमें घुलनशील विटामिन ए, डी एवं ई रहते हैं और 9.5 प्रतिशत एस. एन. एफ. (Solid Not Fat – वसा के अलावा अन्य ठोस पदार्थ) होते हैं। एस. एन. एफ. में प्रोटीन, कार्बोहाइड्रेट (लेक्टोज़) एवं खनिज पदार्थ – जैसे कैल्शियम, फॉस्फोरस, मैग्नीशियम एवं ज़िंक उपस्थित होते हैं।

नकली दूध में डाला गया सोयाबीन या खनिज तेल असली दूध में पाए

सिंथेटिक दूध एवं शुद्ध दूध की तुलना

विशेषताएं	सिंथेटिक दूध	शुद्ध दूध
रंग	सफेद	सफेद
स्वाद	कड़वापन लिए	स्वादिष्ट
गंध	साबुन जैसी गंध जो गर्म करने से पता चलती है	दूधिया गंध
बनावट	अंगुलियों के बीच रगड़ने से साबुन जैसा अनुभव	साबुन जैसा अनुभव नहीं देता है
अम्लीय/क्षारीय	क्षारीय ph लगभग 9–10.5	हल्का अम्लीय ph 6.6–6.8
यूरिया की उपस्थिति	अधिक मात्रा में	बहुत कम जो असली दूध में होती है
शक्कर	रहती है	नहीं रहती है
वनस्पति वसा	रहता है	नहीं रहता है
उदासीन करने वाले पदार्थ	रहते हैं	नहीं रहते हैं

* गाय के दूध में पानी का प्रतिशत 63 से 87 प्रतिशत के बीच होता है।

जाने वाले वसा की पूर्ति करता है। यूरिया, शक्कर, मण्ड, लवण आदि एस. एन. एफ. की मात्रा की पूर्ति करते हैं।

शुद्ध दूध को ज़्यादा दिन रखने के लिए उसमें जान-बूझकर परीरक्षात्मक रसायन (प्रिज़र्वेटिव) जैसे फॉर्मेल्डिहाइड, सेलिसिलिक अम्ल, हाइड्रोजन पेरॉक्साइड मिलाए जाते हैं जो हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। शुद्ध दूध को अगर हल्के से गर्म वातावरण में रखा जाए तो उसमें पाए जाने वाली लेक्टोज़ शर्करा लेक्टिक अम्ल में परिवर्तित होने लगती है, जिसके कारण दूध और अम्लीय हो जाता है। इसलिए इसे उदासीन बनाने के लिए क्षारीय पदार्थ जैसे कॉस्टिक सोड़ा, चूने का पानी आदि डाले जाते हैं ताकि दूध काफी समय तक फटे नहीं।

सिंथेटिक दूध की पहचान

अगर किसी के सामने सौ फीसदी 'सिंथेटिक मिल्क' यानी नकली दूध है तो गंध, रंग, स्वाद आदि के आधार पर कोई भी आसानी से समझ जाएगा कि मामला गड़बड़ है। परंतु जब नकली दूध असली दूध में मिला देते हैं तब दूध के गंध, रंग, स्वाद एवं एकरूपता के आधार पर मिलावट का पता लगाना काफी मुश्किल हो जाता है।

यहां दी गई तालिका में सिंथेटिक दूध के साथ असली दूध की तुलना की गई है। इससे यह तो साफतौर पर समझ आता है कि जहां तक घटकों का सवाल है दोनों में ज़मीन-आसमान का अंतर है। अब सवाल यह है कि इस अंतर का पता कैसे लगाया जाए।

हम बाज़ार से दूध खरीद कर पीना तो बंद नहीं कर सकते लेकिन कम-से-कम इतना तो कर ही सकते हैं कि अपने घर आने वाले दूध की जांच कर इस बात की तसल्ली कर लें कि हम मिलावटी दूध का सेवन तो नहीं कर रहे हैं। जांच के कुछ तरीके यहां सुझाए गए हैं।

जांच के कुछ तरीके

जांच का पहला आसान तरीका यही है कि सिंथेटिक दूध और शुद्ध

दूध की तुलनात्मक तालिका के अनुसार दूध में अंगुलियों को डुबोकर फिर आपस में रगड़कर देखना (साबुन जैसी चिकनाहट तो नहीं है), दूध को सूंघकर देखना (आम दूध की गंध से फर्क तो नहीं है) आदि जैसे काम किए जा सकते हैं।

अब अगले दौर में दूध की अम्लीयता-क्षारीयता की जांच करनी है। तालिका में स्पष्ट रूप से दर्शाया गया है कि कृत्रिम दूध क्षारीय होता है एवं असली दूध हल्का अम्लीय या उदासीन होता है। आप लिटमस कागज़ से इसकी जांच कर सकते हैं। लिटमम पेपर न हो तो हल्दी कागज़ का उपयोग भी कर सकते हैं। (किसी फिल्टर पेपर को हल्दी के घोल में डुबोकर, बाहर निकालकर सुखा लीजिए, हल्दी कागज़ तैयार हो गया) दूध क्षारीय होने की स्थिति में हल्दी कागज़ का रंग लाल हो जाएगा। इसी तरह लाल लिटमस पेपर लेकर टेस्ट करने पर क्षारीय दूध होने पर लिटमस पेपर का रंग नीला हो जाता है।

क्षारीयता का पता लगाने के लिए फिनॉफ्थेलीन घोल का इस्तेमाल भी किया जा सकता है। यदि दूध क्षारीय हो तो घोल का रंग गुलाबी हो जाता है।

मान लीजिए असली दूध में कुछ कम मात्रा में 'सिंथेटिक दूध' मिलाकर कोई व्यक्ति बेचता है तब क्या करेंगे। ऐसी स्थिति में ऊपर बताए गए तरीकों से हो सकता है कि यह जांच पाना मुश्किल होगा।

हमने देखा कि 'सिंथेटिक मिल्क' बनाने में यूरिया एक प्रमुख रासायनिक पदार्थ है। (प्राकृतिक दूध में भी यूरिया पाया जाता है लेकिन बहुत ही कम मात्रा में)* इसलिए प्राकृतिक दूध में भले ही थोड़ा-सा 'सिंथेटिक दूध' मिलाया गया हो, उस दूध में सामान्य से ज़्यादा यूरिया होने की संभावना बढ़ जाती है। यूरिया की मौजूदगी की जांच करने का तरीका भी बहुत मुश्किल नहीं है परन्तु उसमें एक विशेष रसायन की ज़रूरत होती है जो हर जगह नहीं मिल पाता और महंगा भी होता है।

पेरा-डाइमिथाईल-एमिनो-बेंज़ाल्डिहाइड (डि. एम. ए. बी.) यूरिया से क्रिया करने पर पीले रंग के पदार्थ में बदल जाता है। दूध के सेम्पल में पेरा-डाइमिथाईल-एमिनो-बेंज़ाल्डिहाइड की एक-दो बूंद ** डालने

* प्राकृतिक दूध में 45–55 मिलीग्राम/100 मिलीलीटर यूरिया पाया जाता है। यानी एक लीटर असली दूध में लगभग आधा ग्राम यूरिया मौजूद होता है।

** डी. एम. ए. बी. का घोल बनाने के लिए 1.6 ग्राम डी. एम. ए. बी. को 90 मिलीलीटर इथाइल आल्कोहल और 10 मिलीलीटर सांद्र नमक के अम्ल में घोला जाता है।

पर दूध का रंग पीला पड़ जाए तो उस दूध में यकीनन यूरिया ज़्यादा मात्रा में मौजूद है। एक बात ध्यान देने की है कि शुद्ध दूध के साथ यह घोल पीला रंग नहीं देता।

यही परीक्षण आप एक अन्य तरीके से भी कर सकते हैं। फिल्टर पेपर की एक पट्टी लीजिए। इस पट्टी को पेरा-डाइमिथाईल-एमिनो-बेंज़ाल्डिहाइड के घोल में डुबोकर सुखा लीजिए। अब इस पट्टी को दूध के नमूने में डुबोइए। अगर पट्टी का रंग पीला हो जाए तो दूध में यूरिया मिलाकर बनाया गया नकली दूध मिला हुआ है।

अम्लान दास: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम से संबद्ध।

यदि आप अपने घर आने वाले दूध या आसपास की किसी डेयरी के दूध के साथ यह परीक्षण करना चाहते हैं तो आप संदर्भ पत्रिका से संपर्क साधें - आपको रसायन युक्त फिल्टर पेपर की पट्टी डाक से निःशुल्क भेजी जाएगी।

फोटो: स्टेट ऑफ इंडियाज हेल्थ

अब बच्चे स्कूल जाते हैं

प्रभाकर पोड़ापाटी

दो साल पहले हमने होशंगाबाद के केसला विकास खण्ड में बच्चों के लिए काम शुरू किया। हमें आश्चर्य हुआ कि 5 वर्ष से 15 वर्ष के 50 प्रतिशत बच्चे या तो स्कूल से निकाल दिए गए थे या कभी स्कूल गए ही नहीं थे। और वे बच्चे भी जिनका नाम स्कूल में लिखा था नियमित रूप से स्कूल नहीं आ रहे थे। पालकों से संपर्क करने पर ज्ञात हुआ कि चूंकि वहां कोई नियमित स्कूल है ही नहीं अत: वे अपने बच्चों को कहां भेजें? उधर शिक्षकों से संपर्क किया, हालांकि वे कठिनाई से ही मिले। बातचीत से ऐसा महसूस हुआ कि बच्चों को स्कूल भेजने की ज़िम्मेवारी पालकों पर डालकर वे अपनी ज़िम्मेवारी से साफ बच रहे थे। ऐसा लग हमारी सारी व्यवस्था ही भ्रष्ट है। चूंकि स्कूल नियमित रूप से नहीं खुल रहे थे ऐसी स्थिति में पालक अपने बच्चों को स्कूल जाने से अक्सर रोक लेते थे और इसके लिए उन्हें कोई अफसोस नहीं था। कक्षा में छात्रों की

पर्याप्त उपस्थिति न होने से पढ़ाई पर उसका असर होता है तथा पढ़ाने में शिक्षक की अरुचि उत्पन्न हो जाती है। और इसी तरह चलता रहता है। हमने सोचा इस कुचक्र को तोड़ने का प्रयास किया जाए। यहां सबसे बड़ी ज़रूरत एक शिक्षा संस्कृति को विकसित करने की थी। एक ऐसी स्थिति निर्मित करनी जहां न केवल शिक्षक वरन् पालकों और बच्चों सहित पूरा समाज शिक्षा के महत्व को आत्मसात कर ले; तभी हम 'सभी के लिए शिक्षा' के नारे को यथार्थ रूप दे सकेंगे ज़्यादा बच्चों को पढ़ना जारी रखने के लिए रोक पाएंगे। और गुणात्मक दृष्टि से शिक्षा को प्रभावित कर पाएंगे।

सबसे पहले हमने 5 वर्ष से 15 वर्ष तक के ऐसे बच्चों की पहचान की जो या तो स्कूल जाते ही नहीं थे या स्कूल से निकाल लिए गए थे। ये सर्वेक्षण हमने केसला ग्राम पंचायत में सम्मिलित पांच गांवों में किया।

उसके बाद हमने मई-जून 1997 में एक केम्प लगाया। पूरे ग्रामीण समुदाय के साथ कई बार बैठकें करने के पश्चात तथा पालकों और बच्चों की पहल पर 82 बच्चों ने केम्प के लिए अपना नाम दर्ज करवाया। स्कूल नहीं जाने वाले बच्चों का छोटा-सा हिस्सा भर थे ये बच्चे। केम्प का उद्देश्य बच्चों को स्कूल जाने के लिए प्रेरित करना था तथा पढ़ाई के प्रति उनकी रुचि जागृत करना था। साथ ही साथ 'बड़े बच्चों' की उनकी उम्र के हिसाब से कक्षा निर्धारित कर, उस कक्षा में जाने हेतु मानसिक रूप से तैयार करना था। बच्चों को उनके घर से बाहर निकालना ज़रूरी था क्योंकि –

अ. इससे शिक्षा का मूल्य स्थापित होता है; कि अगर पढ़ाना हो तो बच्चों को अन्य ज़िम्मेदारियों से छुटकारा देना होगा।

ब. दो महिने के इस पठन-पाठन के सघन किन्तु उन्मुक्त वातावरण में ढेर सारे बच्चों के – जो कभी स्कूल नहीं गए थे या जो स्कूल से निकाल लिए गए थे – मन में यह भावना बिठाना कि शिक्षा उनके लिए भी संभव है।

स. शिक्षकों के लिए यह एक प्रशिक्षण के समान था बल्कि उससे भी बढ़कर ऐसा अनुभव जो दृढ़ता प्रदान करता है तथा साथ-साथ जीने की भावना को विकसित करता है। इस सामूहिकता से जो ताकत मिलती है उसकी बदौलत वे बाद में अलग-अलग गांवों में अकेले भी काम कर पाते हैं।

द. बच्चों की शिक्षा -दीक्षा में पालकों की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करना। इतना तो हो ही कि स्कूली दिनों में बच्चों पर पारिवारिक तथा

कार्य संबंधी कम-से-कम ज़िम्मेदारी हो।

केम्प के चलते-चलते चार दिनों तक हमने पढ़ाई-लिखाई की कोई बात नहीं की। इन दिनों हम सिर्फ खेलते रहे, नाचते-गाते रहे, और बच्चों की मदद करते रहे ताकि बच्चे खुद को इस नए माहौल में ढाल सकें। और हमने अनुभव किया कि बच्चे उन्मुक्त वातावरण में लीन थे।

यहां न तो ढोरों के पीछे भागना था, न छोटे भाई-बहनों की देख-भाल का झंझट, न ही पानी लेकर आना था और न ही यहां अनर्गल चिल्ला-चोट करने वाले घर के बड़े थे। इनमें से ज़्यादातर बच्चों के लिए रोज़ नहाना, कपड़े बदलना, दिन में तीन बार भोजन करना आदि अनुभव भी एकदम नए थे। यहां वे अपना ग्रुप बनाने, दोस्त ढूंढने जिनके साथ वे खेल सकें, खाने-सोने आदि में व्यस्त थे। और यह सब लगभग दो माह चला।

हम यहां शिक्षकों द्वारा अपनाए गए विभिन्न तरीकों की चर्चा नहीं करेंगे जिनसे बच्चों में रुचि जगाई गई और बच्चों को उनके स्तर के लिए ज़रूरी ज्ञान दिया गया। हम यहां यह इंगित करना चाहते हैं कि बच्चों ने इस प्रशिक्षण को लेकर कैसी प्रतिक्रिया व्यक्त की। वे खुद भोजन, कक्षा व्यवस्था तथा उस दिन पढ़ाए जाने वाले विषय की योजनाएं बनाने में लग जाते; अपनी योजना को कार्यरूप में परिणित करने के लिए सहज ही तैयार हो जाते थे। असल में यहां उनकी राय को महत्व दिया जा रहा था। उन्हें लग रहा था कि उन्हें एक व्यक्ति के रूप में जाना जा रहा है, जिसकी राय का सम्मान है और समूह में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

और कैम्प के बाद

कैम्प के बाद हमें दो तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

एक तो स्कूलों में इतने सारे बच्चों के लिए जगह ही नहीं थी जो अब स्कूल जाना चाहते थे। यह समस्या विशेष रूप से दो पड़ोसी गांवों में आई जहां दोनों गांवों के लिए एक ही स्कूल था। गांववालों ने दोनों गांवों के लिए अलग-अलग स्कूल की मांग उठाई। स्थानीय समुदाय की दो-तीन बार बैठक हुई जिसके फलस्वरूप पंचायत ने एक पुरानी जर्जर बिल्डिंग को रिपेयर किया तथा शासन द्वारा नियुक्त अध्यापकों को पढ़ाने के लिए कहा गया। जब शाला की इमारत जर्जर थी, उन दिनों शिक्षक छात्रों की कम उपस्थिति या शाला भवन में स्थानाभाव जैसे बहाने बनाकर शाला में नियमित रूप से आना टाल जाते थे; लेकिन अब जबकि पर्याप्त बच्चे पढ़ने आ रहे थे तथा दोनों स्कूल भवन

तैयार थे, कोई कारण नहीं रह गया था कि दोनों स्कूल नियमित न चलें। परन्तु कक्षाओं में समान्तर शिक्षक (संस्था के कार्यकर्ता) मौजूद होने पर ही बच्चे पढ़ने आ रहे थे क्योंकि गर्मी के कैम्प में बच्चों की समान्तर शिक्षकों से काफी घनिष्टता हो गई थी। और तो और वे इन शिक्षकों को पसंद भी करने लगे थे। लेकिन अभी भी वे शासकीय शिक्षकों से डरते थे जो कभी उनकी पिटाई किया करते थे। कुछ दिनों बाद बच्चों को लगने लगा कि स्थितियां बदल चुकी हैं। आज दोनों स्कूल चल रहे हैं और बच्चे खुश हैं।

पहले जहां केवल 15-20 बच्चे इन दोनों स्कूलों में शिक्षारत थे अब 120 बच्चे इन स्कूलों में पढ़ रहे हैं।

सबसे महत्वपूर्ण बात इस प्रशिक्षण के दौरान सामने आई वह थी छात्रों तथा शिक्षकों के बीच परस्पर संबंध। हमने अध्यापकों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया था कि वे प्रत्येक छात्र की भावना की कद्र करें तथा यह देखें कि छात्र क्या चाहता है। यदि एक बार छात्र शिक्षक से डरना बंद कर देता है तथा दोनों के बीच एक दोस्ताना रिश्ता कायम हो जाता है तो छात्र/छात्रा के लिए सीखना आनंददायक और आसान हो जाता है। शिक्षक की निकटता और उपस्थिति बहुत महत्वपूर्ण होती है, चाहे वह कक्षा में बैठकर हो या स्कूल के बाद खेल के मैदान में। इससे शिक्षक एवं छात्र एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। तथा छात्र के संपूर्ण विकास में इसका बहुत योगदान रहता है।

दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि शासकीय शिक्षकों के साथ भी एक रिश्ता बनाए रखना चाहिए क्योंकि समान्तर शिक्षकों के रहते नियमित शिक्षक प्रायः यह समझने लगते हैं कि उनकी कोई आवश्यकता नहीं है। एक तरह से वे निश्चिंत हो जाते हैं तथा सारा काम समान्तर शिक्षकों पर डाल देते हैं।

यद्यपि उनमें से किसी को भी बाहरी हस्तक्षेप से कोई आपत्ति न थी, एक उपयुक्त व्यवस्था खड़ी करनी होगी क्योंकि हम वास्तव में शासकीय दायित्वों को अपने ऊपर नहीं ओढ़ना चाहते। कुछ ऐसे शिक्षक भी थे जिन्होंने हमारे तौर तरीके सीखने का प्रयास किया तथा बच्चों को पढाने में उसका भरपूर उपयोग किया। उन्होंने स्वीकार किया कि उन्हें कभी इस तरह का प्रशिक्षण नहीं दिया गया। कई शिक्षक नियमित रूप से स्कूल न आने पर या बच्चों के साथ मार-पिटाई करने पर ग्लानि महसूस करते हैं।

अंत में हम यही कह सकते हैं कि यह समुदाय ही है जो नियमित स्कूल चलने की गारंटी दे सकता है। लेकिन

जब हमने सबसे पहले लोगों से संपर्क किया था तो उनके बहुत से प्रश्न थे – 'बच्चों को शिक्षित करने (स्कूल भेजने) की आवश्यकता ही क्या है जबकि वो काम करके दो पैसे से घर की मदद कर रहे हैं? क्या आप दसवीं कक्षा के बाद नौकरी की गारंटी दे सकते हैं?' या ऐसे ही कुछ और सवाल। आश्चर्य की बात यह है कि लगभग सभी पालकों ने पूछा – 'स्कूल कहां है जहां बच्चों को पढ़ने भेजें? हम बच्चों को स्कूल क्यों भेजें – मारे-पीटे जाने के लिए?'

शिक्षकों द्वारा बच्चों को मारे -पीटे जाने के अलावा बच्चों द्वारा स्कूल छोड़ने का एक मुख्य कारण यह भी है कि उन्हें कक्षा दूसरी या तीसरी में फेल कर दिया जाता है। हालांकि कक्षा चौथी तक बच्चों को फेल नहीं करने का नियम है लेकिन ऐसे कई मामले देखने में आए जहां बच्चे कक्षा दूसरी या तीसरी में दो से अधिक बार फेल हुए। इससे पालकों की इस धारणा को बल मिला कि स्कूल उनके बच्चों को पढ़ाने में अक्षम है और वे अपने बच्चों को स्कूल से निकालने लगे। स्कूल

फोटो: अनिल शाह, प्रोब रिपोर्ट से साभार

न जाने वाले बच्चे स्कूल में पढ़ रहे बच्चों पर एक दबाव की तरह कार्य करते हैं (उन्हें भी बाहर खींचने वाले बल की तरह); साथ ही बच्चों के नियमित रूप से स्कूल न जाने को संगत ठहराते हैं।

इस अनियमित उपस्थिति से स्वाभाविक है कि पढ़ाई भी प्रभावित होती है। यदि कोई बच्चा 10 या 15 दिन स्कूल नहीं जाता है तो वह स्कूल नहीं जाने वाले बच्चों से अपनी तुलना करता है और उसे कोई अपराध बोध नहीं सताता।

यदि कोई बच्चा स्कूल से भागना सीख जाए या पालक इस या उस कारण के चलते उसे स्कूल जाने से रोकने लगे तो अंत में उसका स्कूल जाना हमेशा के लिए छूट जाता है।

यह काफी महत्वपूर्ण है कि पालक पूरी गम्भीरता के साथ बच्चों को स्कूल भेजें। रोज़ बच्चों को स्कूल के लिए तैयार करते हुए यह देखना कि क्या बच्चे ने साफ कपड़े पहने हैं, उसके पास स्लेट-पेंसिल है, उसने खाना खा लिया है; यह सब देखना पालकों का दायित्व है। एक बार जब यह आदत में शामिल हो जाए तो पूरे समुदाय के बच्चों में एक समय पर स्कूल जाने वाला ग्रुप बन जाता है। फिर कोई बच्चा स्कूल से भागता है तो उस पर निगाह रखना तथा सही रास्ते पर लाना आसान हो जाता है। जब प्रायः सभी बच्चे स्कूल जाने लगते हैं तो वे बच्चे जो स्कूल नहीं जा रहे हैं उन्हें भी स्कूल जाने वाले समूह में शामिल होने की इच्छा होने लगती है।

अब तो कुछ गांवों में पालक स्कूल समय पर न खुलने पर पूछताछ करने लगे हैं। पालकों की इस तरह की भागेदारी हौसला बढ़ाने वाली है।

प्रभाकर पोड़ापाटी: केसला तहसील (ज़िला होशंगाबाद) में 'सहमत संस्था' में कार्यरत हैं। *सहमत* आदिवासी बहुल क्षेत्र में शिक्षा के प्रति लोगों में जागरूकता बढ़ाने का काम कर रही है।
मूल लेख अंग्रेज़ी में। **अनुवाद: रजनीकांत शर्मा:** होशंगाबाद निवासी, साहित्य से लगाव तथा शौकिया अनुवादक।

दबाव – कुछ पहलू

अमिताभ मुखर्जी

दबाव की अवधारणा अक्सर उलझन में डाल देती है। ठोस, द्रव और गैस के निहित गुणधर्मों में फर्क की वजह से किसी बर्तन पर कितना और कहां दबाव महसूस होता है? कैसे पता चलता है कि कहां दबाव ज़्यादा है और कहां कम? दो खंड में बंटे इस लेख में ऐसी बहुत-सी बातों को समझने की कोशिश करेंगे।

दबाव शब्द का उपयोग आम ज़िन्दगी में कई तरह से किया जाता है। जैसे कोई भारी वस्तु उठाने में हाथों पर दबाव महसूस होता है। चढ़ाई पर साइकिल चलाते समय पैरों में अधिक दबाव लगता है। परीक्षा से पहले छात्र मानसिक दबाव में होते हैं। जब हम हवा के दबाव की बात करते हैं, तो दबाव का विशेष अर्थ क्या होता है इसे समझने के लिए आइए एक छोटा-सा प्रयोग करते हैं।

इस प्रयोग के लिए हमें एक ईंट या ईंट के आकार का लकड़ी का गुटका या कांच की स्लैब चाहिए। साथ ही ज़रूरत है कुछ रेत या आटे की। रेत को एक परात, गमले या चिलमची में रख लें।

पहले रेत या आटे का एक ढेर बनाइए और उसकी सतह को हाथ से बराबर कर लीजिए। इस स्थिति में उसकी ऊंचाई कम-से-कम 5 से.मी. होनी चाहिए।

अब उस पर चित्र-1 (क) की तरह ईंट को रखिए। ध्यान रहे कि ईंट को घसीटना नहीं है, न ही उसे ऊपर से छोड़ना है। बस धीरे से रेत के ऊपर बिठाना है।

अब ईंट को धीरे से हटा लीजिए।

ईंट के भार से बने हुए गड्ढे को देखिए। (अगर ईंट हटाते ही गड्ढा भर जाता है तो ईंट रखने की क्रिया को फिर से करना होगा।) गड्ढे की गहराई कितनी है? अब ईंट को चित्र-1 (ख) और (ग) की तरह रख कर प्रयोग को दोहराइए। हर बार ईंट रखने से पहले रेत की सतह को हाथ से बराबर करना होगा, ताकि तीनों बार ईंट रखते समय रेत की स्थिति एक जैसी हो। क्या तीनों बार बने हुए गड्ढों की गहराई बराबर है?

यह तो ज़ाहिर है कि ईंट के भार से रेत दब जाती है। ईंट का भार तो तीनों स्थितियों में बराबर है। पर भार का असर पड़ता है ईंट के आधार या नीचे वाले पहलू पर। चित्र-1 (क) में आधार सबसे बड़ा है – यानी उसका क्षेत्रफल सबसे अधिक है और चित्र - 1 (ग) में सबसे छोटा है यानी उसका क्षेत्रफल सबसे कम है।

ऊपर दिए गए प्रयोग और तर्क से 'दबाव' की एक परिभाषा उभरती है:

दबाव = बल / क्षेत्रफल

चित्र-1 (क), (ख) और (ग) में बल एक समान है, ईंट का भार ही वह बल है। पर क्षेत्रफल अलग -अलग हैं। चित्र-1 (क) में बल सबसे अधिक क्षेत्रफल वाली सतह पर लग रहा है अतः दबाव सबसे कम है। चित्र-1 (ख) में क्षेत्रफल कम है, अतः दबाव अधिक है। चित्र-1 (ग) में बल सबसे कम क्षेत्रफल पर लग रहा है, इसलिए दबाव सबसे अधिक है।

द्रव का दबाव

ईंट और दूसरी ठोस वस्तुओं की तरह पानी और अन्य द्रव भी अपने भार के कारण आधार पर दबाव डालते

चित्र–1

चित्र–2

चित्र–3

हैं। पर ठोस वस्तुओं में और द्रवों में एक बहुत बड़ा अंतर है। द्रवों की अपनी कोई आकृति नहीं होती, उन्हें जिस बर्तन में रखा जाता है वे उसी की आकृति धारण करते हैं। केवल उनका आयतन नहीं बदलता; जैसे चित्र-2 में सौ मिली लीटर पानी अलग-अलग पात्रों में रखा है।
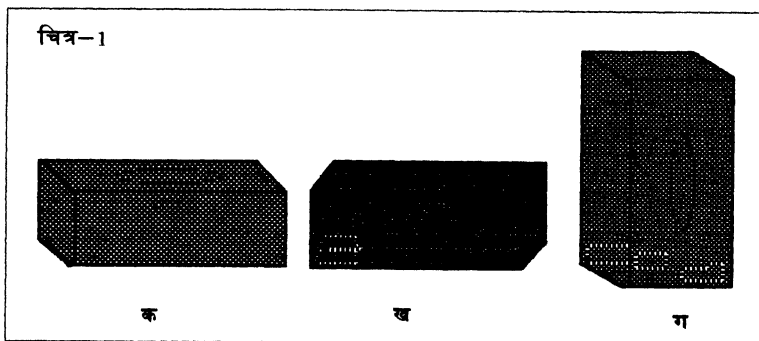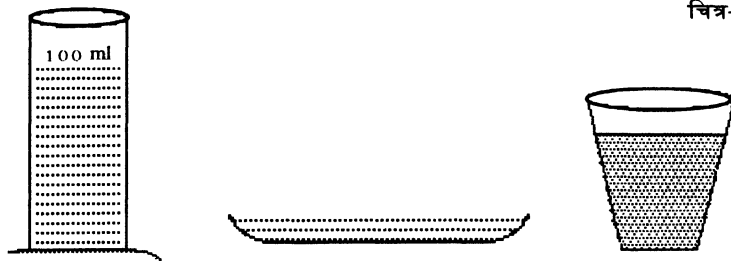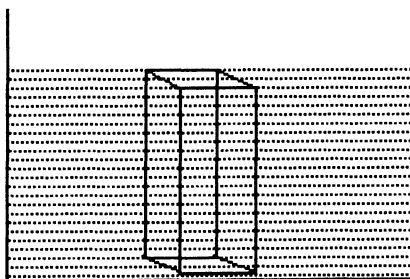
मान लीजिए कि चित्र-2 जैसे नपनाघट या उसी आकार के बर्तन में 10 से.मी. की ऊंचाई तक पानी भरा है। हम पानी से बनी एक 'ईंट' की कल्पना कर सकते हैं, जिसकी ऊंचाई 10 से. मी., लंबाई 1 से. मी. और चौड़ाई 1 से. मी. है। (चित्र-3)

इस ईंट का आयतन 10 x 1 x 1 = 10 घन से.मी. है। चूंकि एक घन से. मी. पानी का भार एक ग्राम होता है इस पानी से बनी ईंट का भार दस ग्राम है। यह भार ईंट के आधार पर काम कर रहा है। आधार का क्षेत्रफल
1 से.मी. x 1से.मी. = 1 वर्ग से.मी. है। लेख के शुरुआत में दबाव के सूत्र की चर्चा की थी, उसके अनुसार इस पानी की ईंट की वजह से बर्तन के आधार पर लग रहे दबाव की गणना कर सकते हैं।

दबाव = बल / क्षेत्रफल

= 10 ग्राम/1 वर्ग से.मी.

= 10 ग्राम/वर्ग से.मी.

इसको इस तरह भी लिख सकते हैं:

पानी का दबाव

= 10 से.मी. x 1 ग्राम/घन से.मी.

= ऊंचाई x 1 घन से.मी. पानी का भार

अगर पानी की जगह कोई दूसरा द्रव होता तो क्या होता? अन्य सब मात्राएं यानी ऊंचाई और आधार का क्षेत्रफल तो वही रहेंगे; पर 1 घन से.मी. का भार हर द्रव के लिए 1 ग्राम नहीं होता। 1 घन से. मी. के भार को द्रव का घनत्व कहते हैं।

तो फिर किसी अन्य द्रव से बनी ईंट का दबाव क्या होगा?

द्रव का दबाव (ग्राम/वर्ग से.मी.) =
ऊंचाई (से.मी.) x घनत्व (ग्राम/घन से.मी.)

यह एक महत्वपूर्ण सूत्र है। यही हमें बताता है कि द्रव से भरे किसी बर्तन के आधार पर कितना दबाव होगा, या तालाब, नदी या समुद्र में गोता लगाने वाला व्यक्ति कितनी गहराई पर कितना दबाव महसूस करेगा।

अब आप पूछेंगे कि एक ठोस ईंट या धातु या लकड़ी के गुटके में और द्रव से बनी काल्पनिक ईंट में क्या कोई अंतर नहीं है? क्योंकि गुटके के आधार पर भी उसके भार के कारण दबाव पड़ता है। हां, इनमें बहुत बड़ा अंतर है। जैसा कि हमने पहले ही कहा है, द्रव को जिस बर्तन में रखेंगे वह उसी की आकृति धारण करेगा। उसकी प्रवृति फैलने या बहने की है। जहां भी द्रव और बर्तन संपर्क में हैं, द्रव फैलने की कोशिश करता है, जिससे बर्तन पर ज़ोर लगता है। अतः द्रव का दबाव केवल आधार पर नहीं, बल्कि बर्तन की दीवारों पर पड़ता है। चित्र-4 में कुछ पात्र दिखाए गए हैं जिनमें पानी भरा है।

इन सभी में 'क' बिन्दु पर दबाव बराबर है। क्योंकि ये बिन्दु समान गहराई पर हैं। यानी 'क' से ऊपरी सतह तक पानी की ऊंचाई बराबर है, और दबाव केवल इस ऊंचाई पर निर्भर है, बर्तन की आकृति पर नहीं। द्रव और ठोस वस्तु में अंतर देखिए। चित्र-5 में एक प्लास्टिक के डिब्बे में लकड़ी का गुटका रखा है। गुटका डिब्बे की दीवारों को छू रहा है, पर चूंकि उसकी अपनी आकृति तय है, वह दीवारों पर कोई दबाव नहीं डालता। केवल आधार पर दबाव डालता है।

द्रवों के दबाव न झेल पाने के इस गुणधर्म को 'तरलता' (fluidity) कहते हैं। अगर उन्हें कहीं रास्ता मिलता है, तो वे दबाव से दूर भागते हैं, अर्थात बहने लगते हैं। एक लंबी ऊंची नली में अगर पानी भरा हो, तो उसके निचले भाग पर दबाव पड़ता है। ऐसे

चित्र–4

चित्र–5
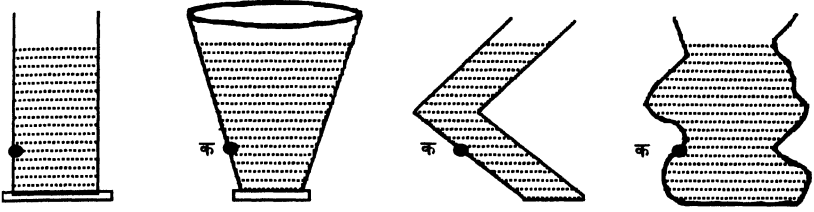
में अगर निकलने का रास्ता मिले तो पानी ज़ोरों से बहने लगता है (चित्र-6)। यही है घरों में लगी पानी की टोटी का राज़।

अगर द्रव को किसी बंद बर्तन में रखकर उसे एक तरफ से दबाया जाए तो? तो द्रव के ज़रिए यह दबाव उसके हर भाग में समान रूप में पहुंच जाता है। फ्रांसीसी वैज्ञानिक पास्कल ने सबसे पहले द्रवों के इस सामान्य गुणधर्म को समझा था, इसलिए इसे पास्कल का नियम कहते हैं।

हवा में बातें?

अब शायद आप कहेंगे, "यह तो हवा में बातें हो रही हैं। हवा की बात तो शुरू ही नहीं हुई। इस सब से हवा के दबाव का क्या संबंध?"

हवा और अन्य गैसें एक दृष्टि से द्रवों की तरह हैं – इनमें भी तरलता या बहने की प्रवृत्ति होती है। पर द्रवों और गैसों में एक अंतर भी है। द्रव
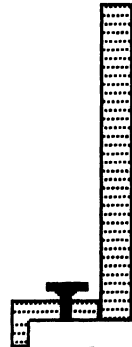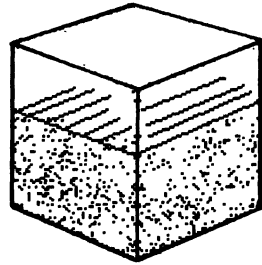
चित्र–6

पात्र के साथ-साथ अपनी आकृति भी बदल लेते हैं, पर उनका आयतन नहीं बदलता। अगर पानी से भरे गुब्बारे को दबाने की कोशिश करें, तो क्या होता है? पास्कल के नियम के अनुसार दबाव पूरे गुब्बारे पर एक समान लगता है। हमने गुब्बारे को किस तरह पकड़ा है, उस पर निर्भर है उसकी आकृति।
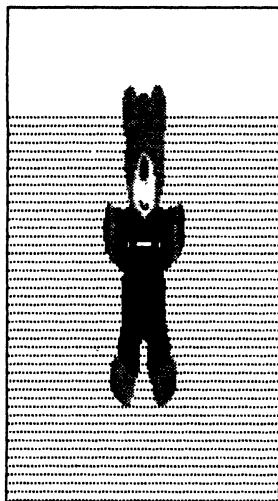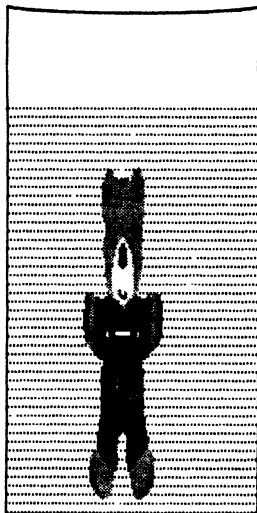
गोताखोर: कांच के जार में पानी भरकर उसमें गोताखोर को छोड़ना है। उसके बाद जार के मुंह को रबर के टुकड़े से बंद कर देते हैं। अब स्थिति 7-क जैसी हो गई यानी गोताखोर अभी तैर रहा है। अब रबर के टुकड़े को दबाते हैं। रबर दबाने पर गोताखोर पानी में नीचे चला जाता है यानी चित्र: 7-ख की तरह। जैसे ही रबर के टुकड़े पर से दबाव हटाते हैं वैसे ही फिर से गोताखोर ऊपर आ जाता है। गोताखोर के इस ऊपर-नीचे जाने का राज़ जानना हो तो चित्र: 7-ग देखिए। गोताखोर का पेट पोला है, एक नलीनुमा रचना जो एक तरफ से बंद है। ज़रा सोचिए इस हवा भरी नली का गोताखोर के ऊपर-नीचे होने से भला क्या संबंध होगा?

पर एक जगह से अगर गुब्बारा पिचक जाए तो दूसरी जगह से बाहर निकल आता है। यानी दबाव से पानी की आकृति ज़रूर बदली, पर आयतन नहीं बदला। यही प्रयोग अगर हवा से भरे गुब्बारे से करें, तो हम देखेंगे गुब्बारे को चारों ओर से दबाने पर वह छोटा हो जाता है। यानी हवा या कोई भी गैस दबाने पर संकुचित हो जाती है। उसका आयतन निश्चित नहीं होता।

हवा के इस गुणधर्म पर आधारित है एक मज़ेदार खिलौना। (चित्र-7)

एक चौड़े मुंह वाले कांच के बर्तन में लगभग आधा पानी भरा होता है। बर्तन का मुंह पहले रबड़ से ढका होता है, जैसे किसी बड़े गुब्बारे या साइकिल की ट्यूब के टुकड़े से। पानी में पुतला तैर रहा होता है (चित्र-7क)। ऊपर के रबड़ को हाथ से धीरे से दबाने पर पुतला नीचे गोता लगाता है (चित्र-7ख), हाथ हटा लेने पर पुतला फिर से ऊपर आ जाता है।

महान फ्रांसीसी दार्शनिक देकार्त (Descartes) के नाम से इस खिलौने को 'कार्तेसीय गोताखोर' कहते हैं।

क्या है इस गोताखोर का राज़? वास्तव में पुतले में एक ऊपर से बंद नली होती है, जिसमें हवा भरी होती है। (चित्र-7ग)

पुतले का भार इतना होता है कि वह इस हवा के सहारे तैर सके। ऊपर के रबड़ को हाथ से दबाने पर यह दबाव हवा के ज़रिए पानी पर पड़ता है, और पास्कल के नियम के अनुसार नली में भरी हवा पर भी पड़ता है। दबाव से हवा संकुचित हो जाती है (उसका आयतन कम हो जाता है) और नली में कुछ पानी घुस आता है। अगर पुतले का भार और नली का आयतन सही हो, तो इतना पानी पुतले को डुबाने के लिए काफी होता है; इसलिए वह गोता मारता है। दबाव हटा लेने पर हवा का आयतन फिर से पहले जितना हो जाता है। पानी बाहर निकल जाने पर पुतला हल्का हो जाता है और फिर से तैरने लगता है।

क्या आप इस विवरण के आधार पर यह खिलौना या इसी सिद्धांत पर आधारित कोई और खिलौना बना सकते हैं? काम थोड़ा नाज़ुक है, क्योंकि अगर पुतले का भार सही न हो, तो वह दोनों स्थितियों में तैरेगा या डुबेगा। कोशिश करके देखिए, और क्या होता है हमें लिख भेजिए।

अमिताभ मुखर्जी: दिल्ली विश्वविद्यालय में भौतिक शास्त्र पढ़ाते हैं।
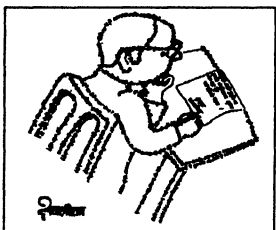
आंसू क्यों टपकते हैं?

सवाल: हमारी आंखों से आंसू क्यों निकलते हैं?

अंक 28 में पूछे गए इस सवाल के बाद काफी पाठकों ने अपने जवाब हमें भेजे थे। इन में से लीना ओझा, शुजालपुर मंडी, शाजापुर तथा दीपक सोंधिया, पाली, उमरिया ने लगभग सही जवाब दिए हैं। यहां दिया गया उत्तर उनके जवाबों पर आधारित है।

'हमारी आंखों से आंसू क्यों निकलते हैं?' इसका जवाब ढूंढने के लिए पहले तो यही देखें कि आखिर आंसू निकलते कब हैं। सबसे मज़ेदार बात तो यही है कि दुख एक सीमा से बढ जाए तो रोना आता है, और खुशी के मारे हंसी से बेहाल हुए जा रहे हों तो भी आंसू टपकने लगते हैं।

इन आंसूओं में मुख्यत: कुछ तेलीय पदार्थ, लवण, कुछ श्लेष्म (म्युकस) और एक विशेष जीवाणुनाशक एंज़ाइम होते हैं। इन्हीं लवणों के कारण आंसू का स्वाद खारा होता है।

ये सबकुछ किसी एक ग्रंथि से आंख में नहीं पहुंचता बल्कि हमारी आंखों के आसपास ऊपर की ओर बहुत सी ग्रंथियां होती हैं जिनमें से विभिन्न पदार्थ स्रावित होकर आंसू बनाते हैं। इनमें से पलकों के थोड़ा ऊपर की ओर, कान की तरफ बादाम के आकार की एक ग्रंथि होती है। इसे 'अश्रुग्रंथि' कहा जाता है। इस ग्रंथि से 6-12 अश्रु नलिकाएं निकलती हैं, जिनसे होकर अश्रुग्रंथि का पनीला द्रव ऊपरी पलक के एकदम किनारे पर निकलता है।

इसी तरह दो अन्य ग्रंथियों में से श्लेष्म स्रावित होता है; और आंख की पलकों में बिछी हुई ग्रंथियां तेलीय पदार्थ निकालती हैं। जब भी पलक झपकती है तो ये सब ग्रंथियां तीनों तरह के पदार्थ स्रावित करती हैं – इन्हीं सब से मिलकर बनता है वह खारा अश्रुद्रव।

हर बार पलक झपकने के साथ ये द्रव आंख के गोले की ऊपरी सतह पर फैल जाता है। यानी कि जब भी हम पलक झपकाते हैं, पानी में जीवाणु-नाशक मिला हुआ पोछा आंख के गोले पर अपने आप लग जाता है, और साथ ही वह हिस्सा नमीयुक्त भी बना रहता है।

इसका मतलब तो ये हुआ कि हर बार पलक झपकने के साथ हम रोते हैं! जी हां, ये बात कुछ हद तक तो सही है। 'कुछ हद तक' इसलिए क्योंकि पलक झपकाने से आंखों में आने वाले इन आंसुओं की मात्रा सामान्यत: अत्यधिक कम होती है। दिनभर में केवल एक मिली लीटर। यानी कि एक
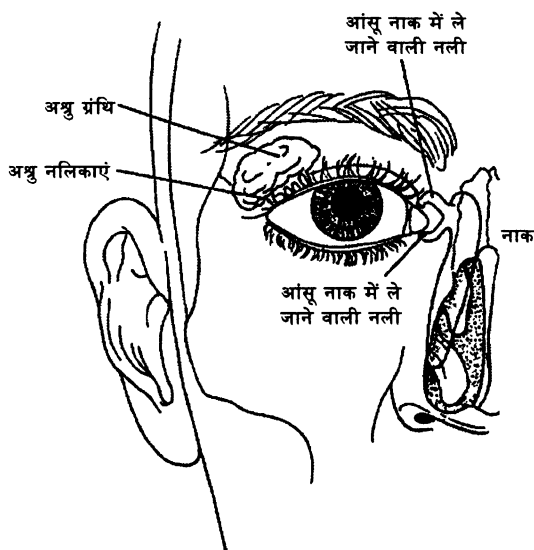
आंसुओं का सफर: आंखों के ऊपर आसपास मौजूद अश्रु ग्रंथियों में आंसू बनते हैं और अश्रु नलिकाओं से होते हुए आंखों में आते हैं। फिर पूरी आंख में ये आंसू फैलकर दो नलियों से होते हुए नाक में चले जाते हैं।

दिन में आंख पर हज़ारों बार पोछा लगाने के लिए केवल पंद्रह-बीस अश्रु पर्याप्त हैं।

अगला स्वाभाविक प्रश्न है कि ये द्रव अंततः कहां जाता है? आंख के गोले के नाक की तरफ वाले प्रत्येक हिस्से में दो छोटी नलियां होती हैं जो नाक के अंदर एक विशेष हिस्से में खुलती हैं। अश्रुग्रंथि से उत्पन्न आंसू अंततः इसी हिस्से में आते हैं। कुछ द्रव भाप बनकर उड़ जाता है।

अब आप कहेंगे कि ये सब तो ठीक है, पर ये क्रिया हमारे लिए क्यों ज़रूरी है? यदि आंसू बनें ही नहीं तो! 'आंसुओं' का सबसे बड़ा लाभ तो हमारी आंखों जैसी नाज़ुक रचना की सफाई और उनमें चिकनाहट व नमी बनाए रखने में है। और फिर जैसे कि हमने शुरू में ही बात की थी आंसू हमारी भावनाओं को व्यक्त करने का सर्वोत्तम तरीका तो हैं ही।

ज़्यादा खुश या ज़्यादा दुखी होने पर मस्तिष्क द्वारा अश्रु ग्रंथियों को भेजे गए संकेतों से ही हमारी आंखों से आंसू टपकने लगते हैं। और इसी तरह ज़्यादा सर्दी/जुकाम होने पर आंख और नाक में स्थित संवेदना कोशिकाएं उत्तेजित हो जाती हैं और उस वजह से आंखों से आंसू निकलने लगते हैं।

इसी तरह कोई अवांछित पदार्थ हमारी आंखों में चला जाता है तब भी इन आंसुओं की बढ़ी हुई मात्रा हमारी आंखों की सुरक्षा करती है।

आंसुओं की बात हो रही है तो प्याज़ की बात कर ही लें क्योंकि यह सब पढ़ते हुए कुछ लोगों के मन में ज़रूर यह सवाल उठ जाएगा कि यह सब तो ठीक है पर प्याज़ काटने पर आंसू क्यों झरने लगते हैं। दरअसल प्याज़ में एक विशेष प्रकार का वाष्पशील द्रव होता है, जो हमारी अश्रु ग्रंथियों को उत्तेजित करता है। यह पदार्थ पानी में अत्यंत घुलनशील होता है और ढेर सारे आंसुओं के साथ-साथ ये भी आंखों से बाहर निकल जाता है। इसलिए अगर प्याज़ पानी के अंदर हाथ रखकर काटें या प्याज़ काटते वक्त आंखों के आगे झीना गीला कपड़ा रख लें तो बहुत सुकून मिलता है।

हाथों-हाथ एक और घटना को परख लें – ज़्यादा रोने पर नाक में भी पानी बहने लगता है, ऐसा क्यों? आंसुओं के पैदा होकर खत्म होने तक के 'सफरनामे' में ही स्पष्ट हो गया होगा कि ये कमाल आंख से नासिका में खुलने वाली छोटी-छोटी नलियों का ही है।

इस सवाल को एन. एन. आर. कॉन्वेंट स्कूल, नंदरवाड़ा, सिवनी मालवा कक्षा - 6 के कई छात्रों ने पूछा था।

सोमनाथ
एक इतिहास के विविध वृत्तांत

रोमिला थापड़

महमूद गज़नवी द्वारा सोमनाथ मंदिर का विध्वंस भारतीय इतिहास लेखन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इस लेख में महमूद के अभियान का विवरण और उसके उद्देश्यों का विवेचन है। वह किस हद तक धार्मिक भावनाओं से प्रेरित था या किस हद तक राजनैतिक या आर्थिक उद्देश्यों को पूरा कर रहा था – यह चर्चा का विषय रहा है। लेकिन इस इतिहास लेखन का अपना इतिहास भी कम महत्व का नहीं है। प्रसिद्ध इतिहासकार रोमिला थापड़ ने जब इन विभिन्न ऐतिहासिक ग्रंथों को जोड़कर देखा तो एक आश्चर्यचकित करने वाली तस्वीर उभरती है। आप भी पढ़कर देखिए कि किस तरह अलग-अलग हाथ किसी घटना को रंगते हैं।

महमूद द्वारा सोमनाथ के मन्दिर पर आक्रमण और वहां की बुत का विनाश पिछली दो सदियों से इतिहास के लेखन में अत्यंत महत्व की घटना बन गई है। कुछ इतिहासकारों का मत है कि इसने पिछले एक हज़ार साल में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच वैमनस्यपूर्ण संबंधों को जन्म दिया है। फिर भी इस एक हज़ार साल के दौरान विभिन्न स्रोतों में इस घटना को और इससे जुड़ी बातों को किस ढंग से पेश किया गया है उसकी पड़ताल करने से पता चलता है कि यह परंपरागत दृष्टिकोण इस घटना को हिंदु-मुस्लिम संबंधों के मान से गलत ढंग से समझने का ही परिणाम है।

सन् 1026 में महमूद गज़नवी ने सोमनाथ के मंदिर पर आक्रमण किया और वहां की मूर्ति को तोड़ा। इसका उल्लेख कई स्रोतों में है, या फिर जहां इसका उल्लेख होने की उम्मीद की जाती है वहां इसका उल्लेख नहीं है।

अभी तक इस घटना और उसके परिणाम के बारे में हम जो बातें मानते आए हैं, कुछ उल्लेख उस पर प्रश्न चिह्न भी लगाते हैं। किसी भी घटना पर एक सदी से दूसरी सदी में व्याख्याओं का आवरण चढ़ जाता है; इससे घटना की समझ में बदलाव हो जाता है। इसलिए, एक इतिहासकार के रूप में हमें न सिर्फ इस बात की जानकारी होना चाहिए कि घटना क्या है और आज हम उसे किस रूप में देखते हैं, बल्कि यह भी जानना चाहिए कि बीच की सदियों के दौरान किस प्रकार घटना की व्याख्या की गई है। इन स्रोतों के विश्लेषण और व्याख्या की प्राथमिकताएं इतिहासकार की व्याख्याओं से ही तय होती हैं।

मैं इसके और सोमनाथ की अन्य घटनाओं के पांच नमूनों को आपके सामने रखना चाहूंगी। इसमें इस ऐतिहासिक सवाल का ध्यान रखा गया है कि महमूद के आक्रमण को किस तरह देखा गया है। ये पांच नमूने हैं– तुर्क-फारसी वृत्तांत, समकालीन जैन ग्रंथ, सोमनाथ के संस्कृत शिलालेख, ब्रिटिश हाऊस ऑफ कॉमन्स की बहस, और वह जिसे अक्सर राष्ट्रवादी व्याख्या कहा जाता है।

मैं सोमनाथ की संक्षिप्त पृष्ठभूमि से शुरू करती हूं। महाभारत में इसे प्रभास कहा गया है, और हालांकि यहां काफी बाद तक मंदिर नहीं था, यह एक तीर्थ स्थान था।[1] इस उप-महाद्वीप के कई हिस्सों के समान इस क्षेत्र में कई धार्मिक पंथ स्थापित हो गए थे – बौद्ध, जैन, शैव और मुस्लिम। इनमें से कुछ तो एक दूसरे के बाद आए और कुछ पंथ साथ-साथ अस्तित्व में रहे। प्रभास का शैव मंदिर जिसे सोमनाथ मंदिर कहा जाता था, 9वीं या 10वीं सदी का है।[2] 11वीं से 13वीं सदी तक गुजरात में चालुक्य वंश का राज्य था। काठियावाड़ में छोटे शासक शासन करते थे, जिनमें से कुछ चालुक्यों के अधीन थे।

सौराष्ट्र कृषि के हिसाब से उपजाऊ था पर उससे ज़्यादा उसकी समृद्धि व्यापार से, खासकर समुद्री व्यापार से, आई थी। सोमनाथ का बंदरगाह, जिसे वेरावल कहते थे, गुजरात के तीन बड़े बंदरगाहों में से एक था। इस काल में पश्चिम भारत का अरब प्रायद्वीप और फारस की खाड़ी के बंदरगाहों से काफी समृद्ध व्यापार था।[3] इस व्यापार की पृष्ठभूमि कई सदियों पुरानी है। अरबों के साथ व्यापार पर आधारित सम्पर्क ज़्यादा स्थाई था और इसकी तुलना में सिंध पर हुए धावों का प्रभाव कम स्थाई था। अरब व्यापारी और जहाज़ी पश्चिमी तट पर बस गए और उन्होंने स्थानीय रूप से विवाह कर लिए और आज के कई समुदायों के वे पूर्वज थे। कुछ अरब स्थानीय शासकों के यहां नौकरी करने लगे,

और राष्ट्रकूट अभिलेख तटीय इलाके में ताजिक प्रशासकों और गवर्नरों का उल्लेख करते हैं।[4] इन अरब व्यापारियों के समान होरमूज़ और गज़नी में ऐसे भारतीय व्यापारी थे, जो 11वीं सदी के बाद भी बहुत सम्पन्न बताए जाते हैं।*[5]

यह व्यापार पश्चिम एशिया से घोड़े के आयात पर केन्द्रित था और उससे कुछ कम शराब, धातु, सूती कपड़ों और मसालों पर। घोड़ों का व्यापार सबसे ज़्यादा फायदेमंद था।[6]** कुछ स्रोत बताते हैं कि इस व्यापार में मंदिरों का काफी धन लगाया जाता था।[7]

सोमनाथ-वेरावल और खंभात के बंदरगाह इस व्यापार से काफी आय पैदा करते थे और उसका काफी हिस्सा व्यापार में लगा दिया जाता था। सोमनाथ के तीर्थयात्रियों पर लगाया कर भी प्रशासन के लिए आय का एक मुख्य स्रोत था। उन दिनों यात्रियों से कर वसूलना एक आम बात थी और इसका उल्लेख मुल्तान के मंदिर के संदर्भ में भी मिलता है।[8]

हमें यह भी मालूम पड़ता है कि स्थानीय राजा – चूडास्म, आभीर, यादव और अन्य – तीर्थयात्रियों पर धावा करके उनसे वह धन लूट लिया करते थे जो वे सोमनाथ के मंदिर को दान देने के लिए ले जाते थे। इसके अलावा तटीय इलाकों में चावड़ा राजा और बवारिज नाम के कई तरह के समुद्री लुटेरे काफी लूटमार करते थे।[9] प्राचीन काल में धन पैदा करने वाले इलाकों में जिस प्रकार अशांति रहती थी, गुजरात के इस हिस्से में भी अशांति थी और चालुक्य प्रशासन को तीर्थ-यात्रियों और व्यापारियों पर होने वाले आक्रमणों को रोकने के लिए काफी मशक्कत करनी पड़ती थी।

इस सबके बावजूद व्यापार की उन्नति होती रही। इस काल में गुजरात में जैन व्यापारियों में एक सांस्कृतिक पुनरुत्थान हुआ। सम्पन्न व्यापारी परिवार राजनीतिक पदों पर थे, राज्य के वित्त का नियंत्रण करते थे, संस्कृति के संरक्षक थे, ऊंचे दर्जे के विद्वान थे, जैन संघों को उदारता से दान देते थे और भव्य मंदिरों के निर्माता थे।

यह है पृष्ठभूमि सोमनाथ मंदिर की, जिस पर महमूद ने सन् 1026 में आक्रमण किया। इसका एक तटस्थ समकालीन उल्लेख मिलता है; एक ऐसे मध्य एशियाई विद्वान से जो भारत में गहरी रुचि रखता था और जिसने वह सब विस्तार से लिखा जो उसने

* अनहिलवाड़ा के 'वास आभीर' के पास गज़नी में दस लाख की जायदाद थी – बढ़ा-चढ़ाकर लिखा हो तो भी काफी जायदाद रही होगी उसके पास।

** मार्कोपोलो भी दक्षिण भारत से संबंधित घोड़े के व्यापार का ज़िक्र करता है।

देखा और सुना — वह था अलबिरुनी। वह हमें बताता है कि महमूद के आक्रमण के करीब सौ साल पहले पत्थर का एक किला निर्मित किया गया और उसके भीतर लिंगम् स्थित था। यह किला शायद मंदिर की संपत्ति की रक्षा करने के लिए था। लिंग का सम्मान नाविक और व्यापारी खासतौर पर करते थे और इसमें आश्चर्य इसलिए नहीं होना चाहिए क्योंकि वेरावल का बंदरगाह महत्वपूर्ण था और जंजीबार से चीन तक वहां से व्यापार होता था। अलबिरूनी महमूद के कई धावों के कारण हुए आर्थिक विनाश की सामान्य ढंग से चर्चा करता है। अलबिरुनी यह भी लिखता है कि मुल्तान में रहने वाला 'दुर्लभ', जो संभवतः एक गणितज्ञ था, कई संवतों का उपयोग करके सोमनाथ पर हुए आक्रमण का वर्ष शक 947 (सन् 1025–26 के समकक्ष)[10] तय करता है। यानी स्थानीय स्रोतों को महमूद के धावे की जानकारी थी।

I

तुर्क-फारसी वर्णन

जैसी कि उम्मीद थी, तुर्क फारसी वृत्तांत इस घटना के आसपास लंबे-चौड़े मिथक बनाते हैं, जिनमें से कुछ का वर्णन मैं यहां कर रही हूं। पूर्वी इस्लामी दुनिया का एक बड़ा कवि फर्रूखी सीसतानी, जो यह दावा करता है कि वह महमूद के साथ सोमनाथ गया था, मूर्ति तोड़ने का एक आश्चर्यजनक स्पष्टीकरण देता है।[11]

इस स्पष्टीकरण को अत्यंत काल्पनिक कहकर आधुनिक इतिहासकारों द्वारा अधिकतर नकार दिया गया है पर मूर्तिभंजन का मूल्यांकन करने के लिए यह महत्वपूर्ण है। उसके अनुसार मूर्ति हिंदू देवता की नहीं थी बल्कि इस्लाम से पहले की अरब देवी की मूर्ति थी। वह कहता है कि सोमनाथ नाम (जैसा कि वह फारसी में लिखा जाता था) वास्तव में सु-मनात था, यानी मन्नत का स्थान। हमें कुरान से पता चलता है कि लाट, उज़्ज़ा और मनात ये तीन इस्लाम के पहले की देवियां थीं और इनकी पूजा बहुत प्रचलित थी।[12] यह भी कहा जाता है कि पैगम्बर मुहम्मद ने इनके मंदिरों और मूर्तियों को तोड़ने का हुक्म दिया था। दो तो पहले ही नष्ट कर दिए गए पर ऐसा विश्वास है कि 'मनात' को चुपचाप गुजरात ले जाया गया और एक उपासनास्थल में स्थापित कर दिया गया। कुछ विवरणों के अनुसार 'मनात' काले पत्थर का ऐसा टुकड़ा था जो कोई मानवीय आकृति नहीं थी (aniconic)। इसलिए उसका रूप लिंगम् के समान हो सकता है। यह कहानी कई तुर्क-फारसी विवरणों पर मंडराती है। कुछ इसे गंभीरता से

लेते हैं और कुछ उसे कम महत्व देते हुए कहते हैं कि वह मूर्ति हिंदू देवता की ही थी।

सोमनाथ की मूर्ति को 'मनात' के रूप में मानना ऐतिहासिक रूप से मान्य नहीं है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि मंदिर में 'मनात' की मूर्ति थी। फिर भी यह कहानी घटना के बाद की स्थिति को समझने के लिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि यह महमूद के शासन को वैधता प्रदान करने के प्रयास से जुड़ी है।

'मनात' की बात से महमूद की प्रशंसा में बढ़ोतरी हुई। वह केवल हिंदू मूर्तियों का ही नहीं बल्कि 'मनात' की मूर्ति नष्ट करने वाला विध्वंसक था, जिसके लिए पैगम्बर ने हुक्म दिया था। वह इस प्रकार, इस्लाम का दोहरा चैम्पियन था।[13]

उसने दूसरे मंदिरों पर भी आक्रमण किया और मूर्तियां तोड़ी, लेकिन उसके कामों के सभी विवरणों में से सोमनाथ ज़्यादा ध्यान खींचता है। खलीफा को अपनी विजयों का विवरण भेजते समय महमूद उन्हें इस्लाम के हित में प्राप्त प्रमुख उपलब्धियां बताता है। और इसमें आश्चर्य नहीं कि इसके लिए महमूद को वज़नदार पदवियां प्रदान की गईं। यह सब इस्लामी दुनिया की राजनीति में उसकी वैधता स्थापित करता है। यह एक ऐसा आयाम है जिसकी उन लोगों ने उपेक्षा कर दी है जो उसके कामों को सिर्फ उत्तर भारत के संदर्भ में देखते हैं।

लेकिन महमूद की वैधता इस तथ्य से भी स्थापित होती है कि वह सुन्नी था और उसने इस्माइलियों और शियाओं पर आक्रमण किया, जिन्हें सुन्नी धर्मद्रोही मानते थे।[14] यह विडम्बना थी कि 11वीं सदी में इस्माइलियों ने मुल्तान के मंदिर पर आक्रमण किया और फिर उन पर महमूद ने आक्रमण किया और उनकी मस्जिद बंद कर दी गई।

धर्मद्रोही का डर इसलिए था क्योंकि रूढ़िवादी इस्लाम के विरुद्ध धर्मद्रोह लोकप्रिय था और पिछली दो सदियों से खलिफाओं से उसकी राजनीतिक शत्रुता थी। ये दोनों बातें आश्चर्यजनक नहीं लगना चाहिए क्योंकि इस्लाम इस क्षेत्र में अपेक्षाकृत नया धर्म था। कहा जाता है कि महमूद ने मुल्तान और मंसुरा में धर्म विद्रोहियों के उपासना स्थलों का विध्वंस किया। उसका दावा था कि उसने 50,000 काफिरों का कत्ल किया और उसके इस दावे के सामने यह बात भी रखी जाती है कि उसी प्रकार उसने 50,000 मुस्लिम पाखण्डियों का कत्ल किया। ये अंक काल्पनिक लगते हैं। हिन्दुओं और शियाओं तथा इस्माइलियों पर किए गए महमूद के

आक्रमण काफिरों और पाखण्डियों के विरुद्ध धार्मिक जेहाद थे। लेकिन रोचक बात यह है कि ये सब वे लोग थे और वे जगहें थीं जो अरबों और खाड़ी के साथ होने वाले अत्याधिक मुनाफे वाले घोड़ों के व्यापार से जुड़ी थी। मुल्तान के मुस्लिम विधर्मी और सोमनाथ के हिंदू व्यापारी दोनों का इस व्यापार में काफी धन लगा था। तो क्या यह संभव है कि धार्मिक कारणों से मूर्तियां तोड़ने के साथ ही महमूद सिंध और गुजरात के रास्ते से भारत को घोड़ों का आयात का व्यापार खत्म करना चाहता था? इससे घोड़ों के व्यापार पर अरबों का एकाधिकार कम हो जाता। चूंकि उत्तर-पश्चिम भारत से होकर अफगानिस्तान से घोड़ों का प्रतियोगी व्यापार चल रहा था, ऐसा संभव है कि महमूद मूर्तिभंजन को व्यापारिक लाभ प्राप्त करने की कोशिश से जोड़ रहा था।[15]

बाद के ढेर सारे विवरणों में – जो कि प्रत्येक सदी में बहुत से मिलते हैं – विरोधाभास और अतिशयोक्तियां बढ़ती जाती हैं। मूर्ति के स्वरूप पर कोई सहमति नहीं है। कुछ कहते हैं कि वह लिंगम था, दूसरे इसके विपरीत इसे मानवीय आकृति बताते हैं।[16]

इस पर भी एकमतता नहीं है कि वह स्त्री मनात है या पुरुष शिव। एक ऐसी मंशा-सी दिखती है कि वह मनात होगी। क्या इस मूर्ति को मनात मान लिया जाना मुस्लिम भावनाओं के लिए अधिक महत्वपूर्ण था?

मूर्ति का मानव आकृति रूप, नाक काटने, पेट को फाड़ने और वहां से जवाहरात निकलने की कहानियों को प्रोत्साहित करता है।[17] मंदिरों में धन होने की कल्पना ने अतिशय सम्पन्नता की कल्पना को जन्म दिया और इससे एक आधुनिक इतिहासकार ने तुर्की आक्रमणों को 'गोल्ड रश' का नाम दे दिया।[18] एक विवरण में कहा गया है कि मूर्ति में बीस मन जवाहरात थे। दूसरे में कहा गया है कि दो सौ मन भारी सोने की एक जंज़ीर लिंग को उसकी जगह पर थामे थी। एक और विवरण के अनुसार लिंगम् लोहे का था और उसके ऊपर एक चुम्बक रखा था, जिससे लिंगम् हवा में लटका रहता था – यह श्रद्धालुओं के लिए स्तंभित करने वाला दृश्य था।[19]

मंदिर की आयु पीछे, और पीछे ले जाई जाती है और मंदिर को 30 हज़ार साल पुराना तक बताया जाता है। ऐसा लगता है कि ऐसे विवरणों में सोमनाथ एक कल्पना बन जाता है और वैसा ही रूप लेने लगता है।

चौदहवीं सदी के ज़्यादा उद्देश्यपरक लेखन हैं बरनी और एसामी के वृत्तांत। दोनों कवि थे। एक दिल्ली सल्तनत से संबंधित था और दूसरा दक्खन की बहमनी सल्तनत से। दोनों महमूद को

एक आदर्श मुस्लिम नायक के रूप में पेश करते हैं, लेकिन कुछ फर्क के साथ। बरनी कहता है कि उसके लेखन का उद्देश्य शासकों को इस्लाम के प्रति उनके कर्त्तव्यों की जानकारी देना है।[20] उसके लिए धर्म और राजत्व दोनों जुड़े हैं और एक शासक यदि ईश्वर की तरफ से शासन करने का दावा करता है तो उसे राजत्व के धार्मिक आदर्शों की जानकारी होना चाहिए। सुल्तानों को शरियत के माध्यम से इस्लाम की रक्षा करना चाहिए और मुस्लिम विधर्मियों और काफिरों, दोनों को नष्ट करना चाहिए। महमूद आदर्श शासक कहा जाता है क्योंकि उसने दोनों काम किए।

फिरदौसी जिसने ईरान के शासकों पर 'शाहनामा' नामक महाकाव्य की रचना की थी, उसका अनुकरण करते हुए एसामी ने मुस्लिम शासकों के बारे में एक महाकाव्य की रचना की है। एसामी का तर्क है कि राजत्व अल्लाह से उतरा है, पहले ईरान के इस्लाम पूर्व राजाओं पर (जिनमें वह मकदूनिया के सिकंदर और ससानी शासकों को शामिल करता है) और फिर भारत के सुल्तानों पर। उसके अनुसार महमूद ने भारत में मुस्लिम शासन की स्थापना की थी।[21]

रोचक बात यह है कि अरब जो महमूद के पहले उपमहाद्वीप में आर्थिक और राजनीतिक रूप से उपस्थित थे, उनका इस इतिहास में ज़िक्र नहीं है। इन विवरणों में नज़रिए का जो फर्क है वह ऐतिहासिक मूल्यांकन के लिए महत्वपूर्ण है और उसकी आगे और पड़ताल करने की ज़रूरत है।

ऐसा लगता है कि महमूद की भूमिका के प्रति दृष्टिकोण में परिवर्तन हो रहा था। पहले उसे केवल एक मूर्तिभंजक के रूप में देखा जाता था, लेकिन अब उसे भारत में इस्लामी राज्य के संस्थापक के रूप में देखा जाने लगा। जबकि संस्थापक वाली बात ऐतिहासिक रूप से सही नहीं है। ऐसा लगता है कि यह इस्लामी इतिहास लेखन में महमूद की जो हैसियत बन गई थी उसके द्वारा भारतीय सुल्तानों को परोक्ष रूप से वैधता प्रदान करने का तरीका था। परंपरागत इस्लाम की दृष्टि से शायद भारतीय सल्तनतें संदिग्ध हैसियत रखती थीं। भारतीय सुल्तानों ने इस्लाम के पूर्व के ईरानी बादशाहों को अपना आदर्श या 'रोल मॉडल' बनाया। वे ऐसे समाज पर हुकूमत कर रहे थे जिसमें अधिकांश लोग गैर मुस्लिम थे। और तो और जिन्होंने इस्लाम स्वीकार कर लिया था, वे भी अपने पुराने रीति रिवाज़ों को मानते रहे जो अक्सर शरिया के विरुद्ध थे। क्या इन बातों के चलते इस्लामी दुनिया में भारतीय सल्तनत की वैधता के

प्रति आश्वस्त होना मुश्किल था और इस कमज़ोरी से उभरने के लिए इस्लाम के 'चैम्पियन' महमूद को सल्तनत का संस्थापक ठहराया जा रहा था? क्या हम यह कह सकते हैं कि इन वर्णनों ने ही सोमनाथ की घटना को एक 'महिमामंडित मूर्ति' (जैसे कि कुछ लोग आजकल इस शब्द का उपयोग करते हैं) का दर्जा दे दिया था?

II

जन वणन

अब मैं इस काल के जैन विवरणों की बात करूंगी। जैसी कि उम्मीद है, वे इस घटना को एक भिन्न दृष्टि से देखते हैं या उसकी उपेक्षा कर देते हैं। मालवा के परमार राज दरबार का जैन कवि धनपाल जो महमूद का समकालीन था, महमूद के गुजरात अभियान का और सोमनाथ सहित कई स्थानों पर उसके धावों का संक्षिप्त वर्णन करता है।[22] पर वह काफी विस्तार से उल्लेख करता है कि जैन मंदिरों में महावीर की मूर्तियां तोड़ने में महमूद असमर्थ रहा क्योंकि 'सर्प गरुड़ को नहीं निगल सकता और न तारे सूर्य की चमक को धुंधला कर सकते हैं।' उनके अनुसार, यह शिव की तुलना में जैन मूर्तियों की बेहतर ताकत का प्रमाण है।

बारहवीं सदी की शुरुआत में, एक दूसरा जैन विवरण हमें बताता है कि मंदिरों को नष्ट कर रहे और ऋषियों तथा ब्राह्मणों को परेशान कर रहे राक्षसों, दैत्यों और असुरों से बहुत क्रुद्ध होकर चालुक्य राजा ने उनके खिलाफ अभियान किया।[23] उम्मीद थी कि इस सूची में तुरुष्क यानी तुर्क भी शामिल किए जाते, पर ऐसा न करके स्थानीय राजाओं को इस सूची में जोड़ा गया है। कहा जाता है कि राजा ने सोमनाथ की तीर्थयात्रा की, और पाया कि मंदिर पुराना हो गया है और टूट-फूट रहा है। उसने कहा कि यह बड़े शर्म की बात है कि स्थानीय राजा सोमनाथ के तीर्थयात्रियों को लूट रहे हैं और मंदिर को अच्छी हालत में नहीं रख पा रहे हैं।

ध्यान रहे, यह वही राजा है जिसने खम्भात में एक मस्जिद का निर्माण कराया था, जिसे मालवा के परमारों ने गुजरात के चालुक्यों के विरुद्ध किए गए एक अभियान में नष्ट कर दिया था। पर परमार राजा ने चालुक्य राजा के संरक्षण में बनवाए गए जैन और अन्य मंदिरों को भी लूटा था।[24] ऐसा प्रतीत होता है कि जब मंदिर शक्ति का प्रतीक दिखेगा तो वह आक्रमण का शिकार होगा चाहे वह आक्रांता के धर्म का ही क्यों न हो।

विभिन्न जैन विवरण चालुक्य राजा कुमारपाल का सोमनाथ से उसके संबंध का उल्लेख करते हैं। कहा जाता है कि वह अमर होना चाहता था।[25]

इसलिए उसके जैन मंत्री हेमचंद्र ने उसे इस बात के लिए तैयार किया कि वह सोमनाथ में लकड़ी के जीर्ण-शीर्ण मंदिर के स्थान पर पत्थर का नया मंदिर बनवाए। मंदिर के बारे में साफ लिखा गया है कि वह जीर्ण-शीर्ण हालत में है न कि ध्वस्त है। जब पुराने मंदिर के स्थान पर नया मंदिर बना दिया गया तो कुमारपाल और हेमचंद्र दोनों ने समारोह में भाग लिया। राजा को हेमचंद्र, एक जैन आचार्य की आध्यात्मिक शक्ति से प्रभावित करना चाहता था इसलिए उनके आह्वान पर कुमारपाल के सामने शिव प्रकट हुए। कुमारपाल इस चमत्कार से इतना अभिभूत हुआ कि उसने जैन धर्म अंगीकार कर लिया। यहां भी शैवधर्म के ऊपर जैनधर्म की बेहतर शक्ति को उभारने का प्रयास है। मंदिर का पुनर्निर्माण भी ज़रूरी माना गया और वह राजा की राजनीतिक वैधता के प्रतीक के रूप में आता है। यह विचित्र-सा ज़रूर दिखता है कि ये गतिविधियां सोमनाथ मंदिर पर केन्द्रित होते हुए भी महमूद का कोई ज़िक्र नहीं करतीं, जबकि महमूद का आक्रमण दो सदियों पहले ही हुआ था। इन विवरणों में सोमनाथ के बारे में चमत्कार ही केन्द्रीय बिंदु था।

महमूद के धावों को लेकर क्षोभ का संकेत एकदम दूसरे जैन स्रोतों से मिलता है और रोचक बात यह है कि ये स्रोत व्यापारी समुदाय से संबंधित हैं। एक कथा संग्रह में जवाडी नामक व्यापारी का उल्लेख है जो व्यापार में तेज़ी से धन कमाता है और फिर उस जैन मूर्ति की खोज में जाता है जो गज्जना नामक क्षेत्र में ले जाई गई थी।[26] यह स्पष्टतः गज़ना है। गज्जना का शासक यवन था। ('यवन' अब तक पश्चिम से आने वाले लोगों के लिए प्रयुक्त होने लगा था।) यवन शासक जवाडी द्वारा भेंट किए गए धन से सरलता से खुश हो गया। उसने जवाडी को मूर्ति खोजने की अनुमति दे दी और जब मूर्ति मिल गई तो उसे वापस ले जाने की अनुमति दे दी। इतना ही नहीं यवन ने मूर्ति रवाना होने के पहले उसकी पूजा की। विवरण का दूसरा भाग गुजरात में मूर्ति की स्थापना से जुड़े उतार-चढ़ावों से संबंधित है, पर वह दूसरी कहानी है।

इस कथा में समरस और सुखद कल्पना के पुट हैं। शुरू में मूर्ति का हटाया जाना अपमानजनक है और दुखी बना देता है। उसकी वापसी की आदर्श स्थितिं यही है कि मूर्तिभंजकों से मूर्ति की पूजा करा ली जाए। कुछ दूसरी भी मार्मिक कथाएं हैं जिनमें गज्जना के शासक या अन्य यवन शासकों से आग्रह किया जाता है कि वे गुजरात पर आक्रमण न करें। पर ऐसी कथाएं सामान्यतः जैन आचार्यों की शक्ति के प्रदर्शन से संबंधित हैं।

इस प्रकार जैन स्रोत अपनी ही विचारधारा को रेखांकित करते हैं। जैन मंदिर बच जाते हैं और शैव मंदिर नष्ट हो जाते हैं। शिव ने अपने लिंग को त्याग दिया है जबकि महावीर अपनी मूर्तियों में विद्यमान रहकर उनकी रक्षा करते हैं। आक्रमण कलियुग में होना है क्योंकि यह पाप का युग है। मूर्तियां तोड़ी जाएंगी किंतु सम्पन्न जैन व्यापारी मंदिरों का पुनर्निर्माण करेंगे। और मूर्तियां सदैव चमत्कारिक ढंग से स्वयं को ठीक-ठाक कर लेंगी।

III

सोमनाथ के संस्कृत शिलालेख

प्रमुख विवरणों का तीसरा वर्ग स्वयं सोमनाथ से मिले संस्कृत शिलालेख हैं, जो मंदिर और उसके पड़ोस को केन्द्र बनाकर चलते हैं। जिन परिप्रेक्ष्यों की तरफ ये इशारा करते हैं वे पहले दो स्रोतों से भिन्न हैं। 12वीं सदी में चालुक्य राजा कुमार-पाल एक शिलालेख जारी करता है। वह सोमनाथ की रक्षा करने के लिए एक 'प्रांतपति' नियुक्त करता है। यह सुरक्षा स्थानीय राजाओं की लूटमार (समुद्री और स्थल मार्गों पर) से की जानी थी।[27] एक सदी बाद चालुक्य फिर से इस इलाके की रक्षा करते हैं — इस बार मालवा के राजाओं के आक्रमण से।[28] स्थानीय राजाओं द्वारा सोमनाथ के तीर्थयात्रियों को लूटे जाने की बात कई शिलालेखों में लगातार कही गई है। सन् 1169 में एक शिलालेख सोमनाथ मंदिर के मुख्य पुजारी भाव बृहस्पति की नियुक्ति का उल्लेख करता है।[29] वह कन्नौज के एक पाशुपत शैव ब्राह्मण परिवार से आने का दावा करता है और जैसा कि शिलालेख बताते हैं, उसने सोमनाथ मंदिर में ताकतवर पुजारियों की श्रृंखला प्रारंभ की। वह कहता है कि मंदिर को पुनः स्थापित करने के लिए स्वयं शिव ने उसे भेजा है। इसकी ज़रूरत भी थी क्योंकि यह एक पुराना ढांचा था जिसकी अधिकारियों ने बहुत उपेक्षा की थी और इसलिए भी कि कलियुग में मंदिरों की हालत खराब होती ही है। भाव बृहस्पति दावा करता है कि उसी ने लकड़ी के ढांचे के स्थान पर पत्थर का मंदिर बनाने के लिए कुमारपाल को राज़ी किया था।

एक बार फिर इन आलेखों में महमूद के धावे का कोई उल्लेख नहीं किया जाता। क्या ऐसा इसलिए था क्योंकि शिव के सशक्त लिंग का ध्वंस होना लज्जा की बात थी? या मंदिर की लूट कोई खास असाधारण घटना नहीं थी? हो सकता है कि तुर्क-फारसी वृत्तांत अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण देते रहे होंगे। फिर भी स्थानीय राजाओं द्वारा तीर्थयात्रियों को लूटने का बार-बार उल्लेख किया गया है। क्या कुमारपाल द्वारा मंदिर का पुनरुद्धार

किया जाना शिव के प्रति श्रद्धा प्रकट करने का कार्य होने के साथ ही वैधता प्राप्त करने की कोशिश भी थी? क्या एक अर्थ में यह महमूद द्वारा मंदिर लूटकर वैधता प्राप्त करने की कार्यवाही का उलटाव है।

सन् 1264 में संस्कृत और अरबी में लिखा एक लंबा कानूनी दस्तावेज़ जारी किया गया था जो होरमूज़ के एक व्यापारी द्वारा भूमि प्राप्त करने और मस्जिद बनाने से संबंधित है।[30] संस्कृत इबारत औपचारिक प्रतीक सिद्धम से शुरू होकर विश्वनाथ यानी शिव की प्रार्थना करती है। किंतु यह भी सुझाव है कि यह अल्लाह यानी संसार के स्वामी का संस्कृत अनुवाद है। हमें बताया जाता है कि होरमूज़ के 'खोजा अबू इब्राहीम' के बेटे 'खोजा नूरुद्दीन फिरोज़' ने मस्जिद बनाने के लिए सोमनाथ शहर के पास महाजनपाली में भूमि प्राप्त की। मस्जिद को 'धर्मस्थान' कहा गया है। नूरुद्दीन फिरोज़ एक जहाज़ का कप्तान था और स्पष्ट है कि वह एक सम्मानीय व्यापारी था, जैसा कि उसकी पदवी खोजा यानी ख्वाजा से साफ है। भूमि स्थानीय राजा श्री छाडा से प्राप्त की गई थी और काठियावाड़ के प्रांतपति मालदेव और चालुक्य-वघेल राजा अर्जुनदेव का भी उल्लेख है।

भूमि प्राप्त करने की इस कार्यवाही को दो स्थानीय संस्थाओं की सहमति है – 'पंचकुल' की और 'जमाथ' की। पंचकुल ताकतवर प्रशासकीय और स्थानीय समितियां थीं, जो इस काल में सुस्थापित थीं। इसमें पुजारी, अधिकारी और व्यापारी, स्थानीय गण्यमान्य जन जैसे मान्य प्रभावी लोग रहते थे। इस खास पंचकुल का प्रमुख पुरोहित शैव पाशुपत आचार्य वीरभद्र था जो संभवतः सोमनाथ के मंदिर से संबंधित था। इसके सदस्यों में से एक था व्यापारी अभय सिंह। अन्य शिलालेखों से लगता है कि वीरभद्र, उत्तराधिकार के क्रम में भाव बृहस्पति से संबंधित था। मस्जिद बनाने के लिए ज़मीन स्वीकृत करने के समझौते के साक्षियों के नामों का उल्लेख है और उन्हें *'ऊंचे लोग'* कहा गया है। वे 'ठक्कुर', 'राणक', राजा और व्यापारी थे और इनमें से कई महाजनपाली के थे। इनमें से कुछ गण्यमान्य लोग सोमनाथ और अन्य मंदिरों की सम्पदा की देखरेख करने वाले थे। महाजनपाली में बनने वाली मस्जिद के लिए दी गई ज़मीन इन्हीं सम्पदाओं का हिस्सा थी।

इस समझौते का अनुमोदन करने वाली अन्य समिति थी 'जमाथ', जिसमें जहाज़ों के मालिक, शिल्पी, नाविक और संभवतः होरमूज़ धार्मिक शिक्षक शामिल थे। तैलियों, राज-मिस्त्रियों और घोड़े के मुसलमान सईसों के नाम भी हैं। और इनका उल्लेख इनके धंधे या जाति के नाम से किया

गया है, जैसे चूर्णकार और घामचिक। क्या ये इस्लाम स्वीकार करने वाले स्थानीय लोग थे? चूंकि मस्जिद के रखरखाव के लिए आय की व्यवस्था जमाथ को सुनिश्चित करनी थी इसलिए इनकी सदस्यता का उल्लेख करना ज़रूरी था।

शिलालेख में मस्जिद को दिए गए दान की सूची है। इसमें ज़मीन के दो विशाल हिस्सों का भी उल्लेख है, जो सोमनाथ-पट्टन में स्थित पड़ोसी मंदिरों की संपत्ति का हिस्सा थे। एक 'मठ' की ज़मीन का, पड़ोस की दो दूकानों की आय का और एक तेलघाणी का भी उल्लेख है। भूमि मंदिरों के पुरोहित और मुख्य पुजारी से खरीदी गई थी और इस बिक्री का सत्यापन ऊंचे पद के लोगों ने किया था। दूकानें और तेलघाणी स्थानीय लोगों से खरीदी गईं थीं।

शिलालेख का स्वर और भावना मैत्रीपूर्ण है और स्पष्ट है कि समझौता सभी को मंजूर था। सोमनाथ मंदिर की कुछ सम्पत्ति से एक बड़ी मस्जिद का निर्माण, किसी विजेता द्वारा नहीं बल्कि एक कानूनी समझौते से एक व्यापारी द्वारा किया गया और उस पर न तो स्थानीय प्रांतपति और गण्यमान्य व्यक्तियों ने ऐतराज़ किया और न पुजारियों ने किया, बल्कि ये सब उस निर्णय में सहभागी थे। इस प्रकार मस्जिद, सोमनाथ मंदिर की भूतपूर्व सम्पत्ति और कर्मचारियों से निकट संबंध रखती है। इससे कई सवाल उठते हैं। महमूद के धावे के करीब दो सौ साल बाद किए गए इस सौदे ने क्या पुजारियों और स्थानीय 'बड़े लोगों' की याद्दाश्त को नहीं कुरेदा? क्या स्मृतियां कमज़ोर थीं, या वह घटना अपेक्षाकृत गौण थी?

क्या स्थानीय लोगों ने बहुधा ताजिक कहे जाने वाले अरबों और पश्चिमी व्यापारियों और तुर्कों या तुरुष्कों के बीच अंतर किया? और क्या अरब और पश्चिमी व्यापारी स्वीकार्य थे और बाद वाले यानी तुर्क कम स्वीकार्य थे? यह साफ है कि वे आज की तरह सभी लोगों को एक-सा मानकर उन्हें मुस्लिम नहीं कहते थे। क्या हमें विशेष सामाजिक समूहों के रवैये का और स्थितियों का परीक्षण करके घटना के प्रति हुई प्रतिक्रियाओं की छानबीन नहीं करना चाहिए? होरमूज़ घोड़े के व्यापार के लिए महत्वपूर्ण था इसलिए नूरुद्दीन का स्वागत किया गया। क्या व्यापार के नफे के सामने अन्य बातें दब गईं? क्या मंदिर और उसके प्रशासक भी घोड़ों के व्यापार में धन लगा रहे थे और मुसलमानों से यानी महमूद के धर्म वालों से व्यापार करके खूब मुनाफा कमा रहे थे?

पंद्रहवीं सदी में गुजरात से कई छोटे शिलालेख तुर्कों से हुई लड़ाइयों

का ज़िक्र करते हैं। एक अत्यंत मार्मिक संस्कृत शिलालेख स्वयं सोमनाथ का है।[31] हालांकि यह संस्कृत में है, इसका प्रारंभ इस्लामी औपचारिक आशीर्वाद 'बिस्मिल्लाह रहमान-ए-रहीम' से होता है। यह वोहरा/बोहरा फरीद के परिवार का विवरण देता है और हम जानते हैं कि बोहरा अरब मूल के थे। हमें बताया जाता है कि सोमनाथ के मंदिर पर तुरुष्कों यानी तुर्कों ने आक्रमण किया और वोहरा मुहम्मद के बेटे वोहरा फरीद ने शहर की सुरक्षा में योगदान दिया और स्थानीय शासक ब्रह्मदेव के साथ उसने तुरुष्कों से युद्ध किया। इस युद्ध में फरीद मारा गया और यह शिलालेख उसकी याद में है।

❄

जो स्रोत मैंने आपके सामने पेश किए हैं उनसे पता चलेगा कि सोमनाथ के मंदिर पर महमूद के आक्रमण के बाद घटना को अलग-अलग नज़रिए से देखा गया और ये सब उससे भिन्न हैं जो हम मान बैठे थे। इनमें से किसी एक या सभी वृत्तांतों से कोई सपाट स्पष्टीकरण नहीं उभरते। तब हम आज कैसे इस सपाट ऐतिहासिक मत पर पहुंच गए हैं कि महमूद के आक्रमण ने हिंदू चेतना को एक सदमा पहुंचाया, ऐसा सदमा जो तब से हिंदू मुस्लिम संबंधों की जड़ में रहा या के. एम. मुंशी के शब्दों में, "एक हज़ार साल तक महमूद के द्वारा किया गया सोमनाथ का विनाश एक अविस्मरणीय और राष्ट्रीय विनाश के रूप में हिंदू नस्ल की अंतरंग चेतना में सुलगता रहा है।" [32]

IV

हाऊस ऑफ कॉमन्स में चर्चा

रोचक बात यह है कि सोमनाथ पर महमूद के आक्रमण से संबंधित 'हिंदू सदमे' का संभवतः सबसे पहला उल्लेख 1843 में लंदन में हाऊस ऑफ कॉमन्स की बहस में सोमनाथ मंदिर के दरवाज़ों की चर्चा में हुआ।[33] 1842 में लॉर्ड एलनबरो ने अपनी प्रसिद्ध 'दरवाज़ों की घोषणा' जारी की थी, जिसमें उसने अफगानिस्तान में स्थित ब्रिटिश सेना को गज़नी होकर लौटने और महमूद के मकबरे से चंदन के दरवाज़े भारत लाने का आदेश दिया। ऐसा माना जाता था कि उन्हें महमूद ने सोमनाथ से लूटा था। ऐसा दावा किया गया था कि इसमें सरकार का उद्देश्य भारत से लूटी गई चीज़ को भारत लाना है। यह काम अफगानिस्तान पर ब्रिटिश नियंत्रण का प्रतीक होगा, हालांकि आंग्ल-अफगान युद्ध में अंग्रेज़ों का प्रदर्शन दयनीय था। इसे ब्रिटिश काल के पहले भारत पर अफगानिस्तान की सत्ता को उलटने की कोशिश के रूप में भी पेश किया

गया। क्या यह, जैसा कि कुछ लोगों का मत था, हिंदू भावना को प्रभावित करने की कोशिश थी?

घोषणा ने हाऊस ऑफ कॉमन्स में तूफान खड़ा कर दिया और सरकार और विरोधीपक्ष के बीच वाक्‌युद्ध का एक मुख्य मुद्‌दा बन गया। सवाल पूछा गया कि क्या एलनबरो हिंदुओं को खुश करके धार्मिक पूर्वाग्रह से खेल रहा है या वह राष्ट्रीय सहानुभूति की अपील कर रहा है? इसका बचाव उन लोगों ने किया जिनका मानना था कि दरवाज़े 'राष्ट्रीय ट्रॉफी' थे, न कि धार्मिक मूर्ति थे। इस सिलसिले में उल्लेख किया गया कि पंजाब के शासक रणजीत सिंह ने अफगानिस्तान के शासक शाहशुजाह से दरवाज़े वापस करने का आग्रह किया था। पर यह आग्रह करने वाले पत्र की जब जांच की गई तो पता चला कि रणजीत सिंह को सोमनाथ मंदिर और जगन्नाथ मंदिर में भ्रम हो गया था। यह भी तर्क दिया गया कि कोई भी इतिहास-कार विभिन्न विवरणों में दरवाज़े का उल्लेख नहीं करता इसलिए दरवाज़ों की कहानी लोकपरंपरा की उपज ही हो सकती है।

जिन इतिहासकारों का उल्लेख किया गया उनमें थे गिबन, जिसने रोमन साम्राज्य पर लिखा, फिरदौसी और सादी जो फारसी कवि थे, और फरिश्ता। इनमें से फरिश्ता ही ऐसा था जिसने सत्रहवीं सदी में भारत का इतिहास लिखा था। फरिश्ता जाना माना था, क्योंकि अठारहवीं सदी में अलेक्ज़ेन्डर डो ने उसके इतिहास का अनुवाद अंग्रेज़ी में किया था। सोमनाथ के विध्वंस का फरिश्ता का विवरण पहले के वर्णनों के समान ही काल्पनिक था और उसमें साफ-साफ अतिशयोक्ति थी, जैसे, मूर्ति का विशाल आकार और महमूद के द्वारा मूर्ति का पेट फाड़ने पर निकले जवाहरातों की विशाल तादाद। और हाऊस ऑफ कॉमन्स के सदस्य भारत के इतिहास की अपनी समझ को अपनी राजनीतिक और दलीय प्रतिद्वंद्विता में हथियार की तरह इस्तेमाल कर रहे थे।

जो लोग एलनबरो के आलोचक थे वे परिणामों की कल्पना से डरे हुए थे – उनका ख्याल था कि दरवाज़े लाने का मतलब था एक देशी धर्म को समर्थन देना और वह भी वीभत्स लिंग पूजन को। उनका ख्याल था कि इसका राजनीतिक परिणाम यह होगा कि मुसलमान अत्यंत रुष्ट होंगे। जो लोग हाऊस ऑफ कॉमन्स में एलनबरो का समर्थन कर रहे थे, उन्होंने उतने ही ज़ोरदार ढंग से तर्क दिया कि वह हिंदुओं के दिमाग से पतन की भावना हटा रहा था। इससे, '......उस देश को, जिस पर मुस्लिम आक्रांता ने आक्रमण किया था, उस दर्दनाक भावना से मुक्ति मिलेगी, जो करीब एक हज़ार साल

से लोगों के मन में कसक रही थी।' और, '.....दरवाज़ों की याद को हिंदुओं ने हिन्दुस्तान पर होने वाले एक अत्यंत विनाशकारी आक्रमण की दर्दनाक यादगार के रूप में पाल रखा है।'

क्या इस बहस ने भारत में हिंदुओं में मुस्लिम विरोधी भावना को भड़काया, जबकि प्राचीन स्रोतों से पता चलता है कि तब ऐसी कोई भावना या तो थी ही नहीं या वह सीमित और स्थानीय रही होगी। पुराने ज़माने में सदमे जैसी कोई बात न होना अभी भी एक रहस्य बना हुआ है।

गज़नी से दरवाज़े उखाड़े गए और विजयी यात्रा के रूप में वापस भारत लाए गए। पर यहां आने पर पता चला कि वे मिस्र की कारीगरी के थे और किसी भी रूप से भारत से संबंधित नहीं थे। इसलिए वे आगरे के किले के एक भण्डारकक्ष में रख दिए गए और संभव है कि अब तक उन्हें दीमक ने चाट खाया होगा।

राष्ट्रवादी वर्णन

इसके बाद हाऊस ऑफ कॉमन्स की बहस सोमनाथ के बारे में हुए लेखन में प्रतिबिम्बित होने लगती है। हिंदू-मुस्लिम संबंधों में महमूद के आक्रमणों को केन्द्र में रख दिया गया। के. एम. मुंशी ने सोमनाथ मंदिर के पुनरुद्धार की मांग का नेतृत्व किया। हिंदू इतिहास के गौरव के पुनरुद्धार के प्रति उनका सम्मोहन उनके वॉल्टर स्कॉट से प्रेरित ऐतिहासिक उपन्यासों के लेखन से शुरू हुआ। लेकिन अधिक गहरी छाप बंकिमचंद्र चटर्जी के *आनंदमठ* से आई जैसा कि 1927 में प्रकाशित उनके उपन्यास *'जय सोमनाथ'* में दिखता है। और जैसा कि एक इतिहासकार आर. सी. मजूमदार कहते हैं, 'बंकिमचंद्र की राष्ट्रीयता भारतीय न होकर हिंदू थी। यह उनके अन्य लेखन से साफ ज़ाहिर होता है, जिनमें मुसलमानों के द्वारा भारत पर अधिकार किए जाने के खिलाफ ज़ोरदार रोष जताया गया है।'[34] मुंशी, उस हिंदू आर्य गौरव का पुनरुद्धार करने के लिए उत्सुक थे जो मुसलमानों के आगमन के पहले था। उनके द्वारा मुस्लिम शासन को भारत में इतिहास के एक बड़े विभाजक के रूप में देखा गया। मुंशी की टिप्पणी बहुधा हाऊस ऑफ कॉमन्स की बहस में दिए गए वक्तव्यों को प्रतिध्वनित करती है, जैसा कि उनकी पुस्तक, 'सोमनाथ: द श्राइन एटरनल' से ज़ाहिर है।

मुंशी ने सोमनाथ के मंदिर को भारत में मुस्लिम मूर्ति भंजकता का सबसे महत्वपूर्ण प्रतीक बना दिया। परंतु इसके पहले इसका महत्व अधिकतर क्षेत्रीय रहा है। मुस्लिम मूर्ति भंजकता के प्रतीक के रूप में इसका लगातार

उल्लेख अधिकतर सिर्फ तुर्क-फारसी वृत्तांतों में है। मुंशी खुद गुजरात के थे, शायद यह तथ्य सोमनाथ को उभारने के पीछे काम कर रहा था। इसके पहले, देश के दूसरे भागों में जहां भी मूर्ति भंजकता के प्रतीक थे वे स्थानीय महत्व के थे और सोमनाथ पर हुए आक्रमण के बारे में लोगों की रुचि कम ही थी।

1951 में सोमनाथ के पुन: निर्माण के बारे में मुंशी ने, जो तब केन्द्रीय सरकार के एक मंत्री थे, कहा: '.....भारत सरकार द्वारा सोमनाथ के पुनर्निर्माण की योजना से भारत की समग्र अवचेतना ज़्यादा खुश है, बनस्बित उन चीज़ों के जो हमने की हैं या कर रहे हैं।' [35] इस परियोजना से भारत सरकार के जुड़ने पर नेहरू ने कड़ा विरोध किया था और ज़ोर दिया था कि यह पुनरुद्धार किसी निजी संस्थान द्वारा किया जाना चाहिए। [36] भारत के राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद, प्रतिष्ठापन समारोह सम्पन्न करें, यह नेहरू को स्वीकार्य नहीं था। घटना के अध्ययन में इससे एक नया आयाम जुड़ जाता है, जिससे समाज और राज्यसत्ता की धर्मनिरपेक्ष पहचान जुड़ी है।

VI

यह मान्यता है कि, सोमनाथ पर आक्रमण जैसी घटनाओं ने दो विरोधी प्रकार की गाथाओं को जन्म दिया: 'विजय की गाथा' और उसके विरोध में 'प्रतिरोध की गाथा'। [37] यह भी कहा गया कि यह हिंदू मूर्तिपूजा से इस्लाम की टक्कर का सर्वोच्च प्रतीक है। हम यह बखूबी पूछ सकते हैं कि इस विभाजन ने कब जन्म लिया? क्या यह इस कारण नहीं उभरा कि आधुनिक इतिहासकारों ने वर्णनों के सिर्फ एक समूह को अक्षरश: पढ़ा और इनका दूसरे वर्णनों से मिलान नहीं किया? यदि वर्णनों को इतिहास लेखन के संदर्भ में रखे बिना पढ़ा जाता है तो वह पठन एक तरह से अधूरा है और इसलिए विकृत है। उदाहरण के लिए फरिश्ता का विवरण, उसके इतिहास लेखन पर विचार किए बिना हाल के समय में लगातार दोहराया गया है। न ही सोमनाथ के बारे में तुर्क-फारसी या अन्य वर्णनों को इतिहास लेखन परंपरा में स्थान दिया गया।

हम अभी भी ऐसी स्थितियों को हिंदुओं और मुस्लिमों का द्वंद्व पेश करने वाली स्थितियां मान रहे हैं। पर मैंने जिन स्रोतों की चर्चा की है उनसे यह स्पष्ट होना चाहिए कि भिन्न-भिन्न एजेन्डा वाले ऐसे कई समूह हैं जो सोमनाथ और इस घटना की छवि का निर्माण करते हैं। अरबों और तुर्कों के प्रति फारसी वृत्तांतों के रुख में फर्क है। फारसी स्रोतों में 'मनात' की प्रारंभिक फंतासी का स्थान भारत में

सुल्तानों के माध्यम से किए जा रहे इस्लामी शासन की वैधता जैसी राजनीतिक महत्व की बात ले लेती है। क्या फारसी वृत्तांत जान-बूझकर भारत में अरबों के आक्रमण का महत्व कम आंक रहे थे? और यदि ऐसा है तो क्या इसकी जड़ें इस्लाम के प्रारंभिक इतिहास के दौरान ईरानियों और अरबों के बीच हुए संघर्ष में खोजी जा सकती हैं? बोहरे और तुर्क दोनों मुसलमान थे पर उनके बीच की शत्रुता भी इस संघर्ष का हिस्सा रही होगी क्योंकि बोहरे अरब मूल के थे और वे शायद खुद को गुजरात का निवासी मानने लगे थे और वे तुर्कों को आक्रांता के रूप में देखते थे।

जैन लेखकों द्वारा लिखे इतिहास और जीवनियां, राजसी दरबार और अभिजात्य वर्ग के धर्म की चर्चा करते समय महावीर को शिव से बेहतर ढंग से पेश करते हैं और तब उनका मकसद जैनों और शैवों के बीच की प्रतिद्वंद्विता हो जाता है। लेकिन जो स्रोत भिन्न सामाजिक वर्ग, यानी जैन व्यापारियों के बारे में लिखते हैं वे, महमूद से हुए टकराव से समझौता करते दिखते हैं, शायद इसलिए कि आक्रमणों और अभियानों के दौर में व्यापारी समुदाय ने भारी नुकसान उठाया होगा।

सन् 1264 के वेरावल शिलालेख से पता चलता है कि मस्जिद के निर्माण में विभिन्न सामाजिक वर्गों का सहयोग मिला था। अत्यंत रुढ़िवादी कर्म-काण्डियों से लेकर शासकीय सत्ताधारियों ने, और सर्वोच्च सम्पत्तिशाली लोगों से लेकर कम सम्पत्ति वालों ने इसमें सहयोग किया था। रोचक बात यह है कि जमाथ के सदस्य होरमूज़ के मुसलमान थे। ऐसा भी मालूम पड़ता है कि इसमें सहयोग देने वाले स्थानीय मुसलमान मुख्यत: समाज के निचले धंधों वाले थे। इसलिए मस्जिद के रखरखाव की ज़िम्मेदारी निभाने के लिए उन्हें सोमनाथ के अभिजात्य वर्ग की सदिच्छा पाने की ज़रूरत रही होगी।

क्या यह अभिजात्यवर्ग स्वयं को सम्पत्ति पर एक नए किस्म के संरक्षक के रूप में देख रहा था? ये रिश्ते सामान्य 'हिंदू हितों' और 'मुस्लिम हितों' के द्वारा तय नहीं किए गए थे। ये कुछ अधिक खास हितों के अनुसार भिन्नता लिए थे जो नस्ल, धार्मिक सम्प्रदाय और सामाजिक हैसियत पर आधारित थे।

❋

मैंने यह दिखाने की कोशिश की है कि किस प्रकार विवरणों का हर समूह सोमनाथ मंदिर की घटना को अलग-अलग प्रकार से देख रहा था — एक मूर्तिभंजक और इस्लाम के चैम्पियन को प्रोजेक्ट करने के अवसर के रूप में; शैवधर्म के ऊपर जैनधर्म की श्रेष्ठता

बताने के लिए; कलियुग के दोष के रूप में; अन्य बातों पर ध्यान न देकर व्यापार के नफे को केन्द्र बिन्दु बनाकर; इस औपनिवेशिक विचारधारा के अनुरूप कि भारतीय समाज में हमेशा हिंदू और मुस्लिम द्वंद्व विद्यमान रहे हैं; हिंदू राष्ट्रवाद और अतीत के पुनरुद्धार के एक खास नज़रिए के रूप में जिसमें आधुनिक भारतीय समाज को धर्मनिरपेक्ष बनाने का विरोध किया गया है। किंतु ये सभी अलग-अलग या स्वतंत्र केन्द्र बिन्दु नहीं हैं। इन सभी को पास-पास रखकर देखने पर एक पैटर्न उभरता है, एक ऐसा पैटर्न, जिसमें इस बात की आवश्यकता महसूस होती है कि घटना की समझ ऐतिहासिक संदर्भों के अनुरूप हो, बहुआयामी हो और वर्णनों में जो विचारधारा का ढांचा निहित है, उसके प्रति सतर्कता हो। मेरा दावा है कि सोमनाथ मंदिर पर महमूद के आक्रमण ने एक विभाजन नहीं उत्पन्न किया, क्योंकि घटना को समझने से जुड़े कई पहलुओं में से प्रत्येक चेतन या अवचेतन रूप में अन्य कई संदर्भों से भी आच्छादित था। ये सब हमारा ध्यान छुपी और प्रकट विभिन्न प्रस्तुतियों की तरफ ले जाते हैं और इन प्रस्तुतियों में निहित वक्तव्यों की और पड़ताल करने को प्रेरित करते हैं। इन पहलुओं का मूल्यांकन हमें अतीत के प्रति ज़्यादा संवेदनशील दृष्टि प्रदान कर सकेगा।

रोमिला थापड़: देश की शीर्षस्थ इतिहासकारों में से हैं।
अनुवाद: डॉ. सुरेश मिश्र: इतिहास के पूर्व-प्राध्यापक। खण्डवा में रहते हैं।
यह लेख प्रो. थापड़ द्वारा बंबई विश्वविद्यालय में 1999 को दिए डी. डी. कोसाम्बी मेमोरियल अभिभाषण पर आधारित है, जो 'सेमीनार' पत्रिका के अंक 475 (मार्च 1999) में प्रकाशित किया गया। यह हिन्दी अनुवाद सेमीनार में प्रकाशित लेख पर आधारित है।

संदर्भ ग्रंथ

1. *Vana parvan* 13.14; 80. 78; 86. 18-19; 119.1.
2. B. K. Thapar, 1951, 'The Temple at Somanatha: History by Excavations', in K. M. Munshi, *Somnath: The Shrine Eternal, Bombay*, 105-33; M. A. Dhaky and H. P. Sastri, 1974, *The Riddle of the Temple at Somanatha*, Varanasi.
3. V. K. Jain, 1990, *Trade and Traders in Western India*, Delhi
4. *Epigraphia Indica*, XXXII, 47 ff.
5. Muhammad Ulfi, 'Jami-ul-Hikayat', in Eliot and Dowson, *The History of India as Told by its own Historians*, II, 201.
6. Abdullah Wassaf, *Tazjiyat-ul-Amsar*, in Eliot and Dowson, *The History of India as Told by its own Historians*,III 31 ff. *Prabandhachintamani*, 14; Rajashekhara, *Prabandhakoshala*, Shantiniketan, 1935, 121

7. Abdullah Wassaf, Eliot and Dowson, op. cit. I, 69; Pahoa Inscription, *Epigraphia Indica*, 1.184 ff.

8. A. Wink, 1990, *Al-Hind*, Volume I, Delhi, 173 ff; 184 ff, 187 ff.

9. Alberuni in E. C. Sachau, 1964 (reprint), *Alberuni's India*, New Delhi, I. 208.

10. Ibid., II. 9-10, 54.

11. F. Sistani in M. Nazim, 1931, *The Life and Times of Sultan Mahmud of Ghazni*, Cambridge.

12. Quran, 53. 19-20. G. Ryckmans, 1951, *Les Religions Arabes Pre-Islamique*, Louvain.

13. Nazim, op. cit.

14. A. Wink, 1990, *Al-Hind*, I, Delhi, 184-89; 217-18.

15. cf. Mohammad Habib, 1967, *Sultan Mahamud of Ghaznin*, Delhi.

16. Ibn Attar quoted Nazim, op. cit; Ibn Asir in *Gazetteer of the Bombay Presidency*, I, 523; Eliot and Dowson, II, 248 ff; 468 ff. al Kazwini, Eliot and Dowson, I, 97 ff. Abdullah Wassaf, Eliot and Dowson, III, 44 ff; IV 181.

17 Attar quoted in Nazim, op. cit, 221; Firishta in J. Briggs, 1966 (reprint), *History of the Rise of the Mohammadan Power in India*, Calcutta

18. A. Wink, *Al-Hind*, Volume 2,217.

19. Zakariya al Kazvini, *Asarul-bilad*, Eliot and Dowson, op. cit., I, 97 ff.

20. *Fatawa-yi-Jahandari* discussed in P. Hardy, 1997 (rep), *Historians of Medieval India*, Delhi, 25 ff; 107 ff

21. *Futuh-al-Salatin* discussed in Hardy, op. cit., 107-8.

22 *Satyapuriya-Mahavira-utsaha*, III.2. D. Sharma, 'Some New Light on the Route of Mahamud of Ghazni's Raid on Somanatha: Multan to Somanatha and Somanatha to Multan', in B.P. Sinha (ed.), 1969, Dr. Satkari Mookerji Felicitation Volume, Varanasi, 165-168.

23. Hemachandra, *Dvyashraya-kavya*, Indian Antiquary 1875, 4, 72 ff, 110 ff, 232 ff, 265 ff, Ibid., 1980, 9.; Klatt, 'Extracts from the Historical Records of the Jainas', *Indian Antiquary* 1882, II, 245-56; A.F.R. Hoernle, Ibid 1890, 19, 233-42.

24. P. Bhatia, *The Paramaras*, Delhi, 1970, 141.

25 Merutunga, *Prabandha-chintamani*, C.H. Tawney (trans.), 1899, Calcutta, IV, 129 ff. G. Buhler, 1936, *The life of Hemachandra-charya*, Shantiniketan.

26 *Nabhinandanoddhara*, discussed in P. Granoff, 1992, 'The Householder as [illegible] Biographies of TempleBuilders', *East and West*, 42, 2-4, 301-317.

27. Praci Inscription, *Poona Orientalist*, 1937, 1.4.39-46

28. *Epigraphia Indica* II, 437 ff.

29. Prabhaspattana Inscription, BPSI, 186

30. Somanathapattana Veraval Inscription, *Epigraphia Indica*, XXXIV, 141 ff

31. D.B.Disalkar, 'Inscriptions of Kathiawad', *New Indian Antiquary*, 1939, I, 591.

32 Somantha: *The Shrine Eternal*, 89.

33. *The United Kingdom House of Commons Debate, 9 March 1943*, on, The Somnath (Prabhas Patan) Proclamation, Junagadh 1948. 584-602, 620, 630-32, 656, 674.

34. *British Paramountcy and Indian Renaissance*, Part II. History and Culture of the Indian People, 1965, Bombay, 478.

35. Munshi, op.cit., 184.

36. S. Gopal (ed.), 1994, *Selected Works of Jawaharlal Nehru*, Vol. 16, Part I, Delhi 270 ff.

37. Aziz Ahmed, 1963, 'Epic and Counter-Epic in Medieval India', *Journal of the American Oriental Society*, 83, 470-76.

38. Davis, op.cit., 93.

व्यंग्य
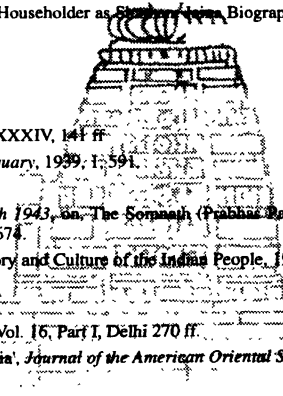
एक शंख बिन कुतुबनुमा

शरद जोशी

जिसे कहते हैं दिव्य, वे वैसे ही लग रहे थे। किसी त्वचा मुलायम करने वाले साबुन से सद्य नहाए हुए। उन्नत ललाट और उस पर अपेक्षाकृत अधिक उन्नत टीका, लाल और हल्के पीले से मिला ईंटवाला शेड। यह रंग कहीं बुश्शर्ट का होता तो आधुनिक होता। टीके का था, तो पुराना। मगर क्या कहने! बाल लंबे और बिखरे हुए। स्वच्छ बनियान और श्वेत धोतिका (मेरे ख्याल से प्राचीन काल में ज़रूर धोती को धोतिका कहते होंगे), चरणों में खड़-खड़ निनाद करने वाले खड़ाऊं। किसी गहरे प्रोग्राम की संभावना में डूबी आंखें। हाथ में एक नग उपयोगी शंख। सब कुछ चारु, मारू और विशिष्ट।

उस समय सूर्य चौराहे के ऊपर था। लंच की भारतीय परंपरा के अनुसार डटकर भोजन करने के उपरांत मैं पान खाने की संस्कृति का मारा चौराहे पर गया हुआ था। वहीं मैंने उस तेजोमय व्यक्तित्व के दर्शन किए।

"बाबू उत्तर कहां है, किस ओर है?"

मुझे अपने प्रति यह बाबू संबोधन अच्छा नहीं लगा। आज मैं सरकारी नौकरी में बना रहता, तो प्रमोशन पाकर छोटा-मोटा अफसर हो गया होता और एक छोटे-से दायरे में साहब कहलाता। खैर, मैंने माइंड नहीं किया। जिस तरह दार्शनिक उलझाव में फंसा हुआ व्यक्ति जीवन के चौराहे पर खड़ा

हो एक गंभीर प्रश्न मन में लिए व्याकुल स्वरों में पुकारे कि उत्तर कहां है, कुछ उसी तरह मैंने मन में समझ लिया कि किसी छायावादी आलोचक की कोई पुस्तक इस व्यक्ति के लिए मुफीद होगी। अपने स्वरों में एक किस्म की जैनेन्द्री गंभीरता लाकर मैंने पूछा – "कैसा उत्तर भाई, तुम्हारा प्रश्न क्या है?"

अपने दिव्य नेत्रों से उन्होंने मेरी ओर यूं देखा, जैसे वे किसी परम मूर्ख की ओर देख रहे हों और बोले, 'मैं उत्तर दिशा पूछ रहा हूं बाबू!"

यह सुन मेरा तत्काल भारतीय-करण हो गया। दार्शनिक ऊंचाई से गिरकर एकदम सड़क छाप स्थिति।

"आपको कहां जाना है?" मैंने सीधे सवाल किया। शहरों में यही होता है। अगर कोई व्यक्ति दूसरे से पूछे कि पांच नंबर बस कहां जाती है, तो उसे जवाब में सुनने को मिलता है कि आपको कहां जाना है? राह कोई नहीं बताता, सब लक्ष्य पूछते हैं, जो उनका नहीं है।

"उत्तर दिशा किस तरफ है बाबू, आप पढ़े-लिखे हैं, इतना तो बता सकते हैं ......?"

मुझे अच्छा नहीं लगा। हर बात के लिए शिक्षा -प्रणाली को दोषी मानना ठीक नहीं। पढ़े-लिखों को उत्तर मालूम होता, तो अब तक देश के सभी प्रश्न सुलझ जाते। जहां तक मेरी स्थिति है, सही उत्तर मैंने परीक्षा भवन में भी नहीं दिया, तो यह तो चौराहा है। मैं क्यों देता? और क्या देता?

"क्या आपको उत्तर दिशा की ओर जाना है?" स्वर में मधुरता ला मैंने जिज्ञासा की।

"मुझे उत्तर दिशा की ओर मुंह कर यह शंख फूंकना है।" उन्होंने कहा, "आप बता दें तो मैं फूंक दूं।"

मैंने कमर पर हाथ रख सारा चौराहा घूमकर देखा, मगर उत्तर दिशा
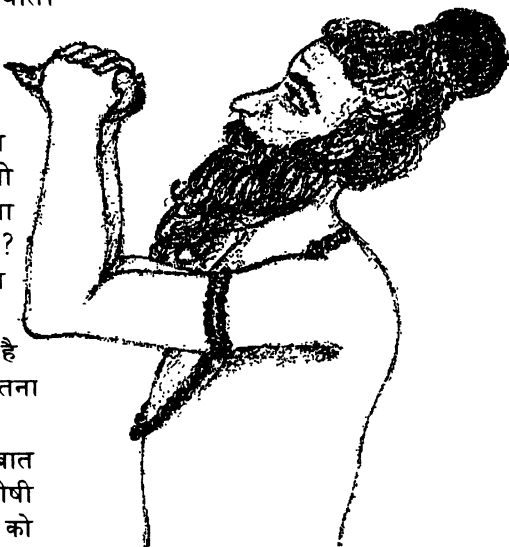
कहीं नज़र नहीं आई। दाईं ओर एक लांड्री थी, बाईं ओर पानवाला और उसके पास साइकिल वाला। सामने एक पनचक्की थी। एकाएक मुझे स्कूल में पढ़ी एक बात याद आई कि यदि हम पूर्व की ओर मुंह करके खड़े रहें तो हमारे दाएं हाथ की ओर दक्षिण तथा बाएं हाथ की ओर उत्तर होगा। वामपंथ और दक्षिणपंथ के मतभेद यहीं से शुरू होते हैं।

"देखिए, यदि आप मुझे पूर्व दिशा बता दें, तो मैं आपको उत्तर दिशा बता सकता हूं।" मैंने प्रस्ताव रखा।

"सूर्योदय जिधर से होता है, वही पूर्व दिशा है।"

"जी हां।"

"किधर से होता है सूर्योदय?" पूछने लगे।

"मुझे नहीं पता। मैं देर से सोकर उठता हूं।"

उन्होंने अपने दिव्य नेत्रों से मेरी ओर यूं देखा, जैसे वे किसी परम आलसी की ओर देख रहे हों और बोले, "आप सोते रहते हैं, सारा देश सोता रहता है और कलिकाल सिर पर छा गया है। चारों ओर पाप फैल रहा है, धर्म का नाश हो रहा है।"

"हरे-हरे!" मैंने सहमति सूचक ध्वनि की।

"उत्तर दिशा पापात्माओं का केन्द्र है, राजधानी दिल्ली अधर्मियों का बड़ा अड्डा बन गई है।"

"नहीं, ऐसा तो नहीं, स्थानीय चुनावों में तो धार्मिक लोग जीतते हैं।" मैंने कहा।

"मैं पार्लियामेंट की बात कर रहा हूं बाबू, संसद भवन और शासन की।"

"आप वहां जाकर कुछ अनशन-वनशन करेंगे?" मैंने पूछा।

"नहीं, मैं यह दिव्य शक्ति संपन्न शंख उत्तर दिशा की ओर फूंकूंगा। इसका स्वर दिगन्त तक गूंज उठेगा और उत्तर दिशा की पापात्माएं इसका स्वर सुनकर नष्ट हो जाएंगी।"

"शंख क्या एकदम बिगुल हुआ। आप इसे माइक के सामने फूंकेंगे।" मैंने नम्र जिज्ञासा की।

"बाबू समय आ गया है।" उन्होंने सिर के ठीक ऊपर चमकते हुए सूर्य की ओर देखा और कहा– "मुझे ठीक मध्याह्न में शंख फूंकना है। आप जल्दी बताइए, उत्तर दिशा किधर है?"

"आप चारों ओर घूमकर सभी दिशाओं में इसे फूंक दीजिए, पाप तो सर्वत्र फैला हुआ है।"

"नहीं, केवल उत्तर दिशा में। गुरुजी की यही आज्ञा है। उत्तर में सत्ता का केन्द्र है। पहले उसे अधिकार में लेना होगा। फिर वहीं से सर्वत्र पुण्य फैलेगा।

बताइए, शीघ्र बताइए, मेरी सात दिनों की मंत्र-साधना इस छोटी-सी सूचना के अभाव में नष्ट हुई जाती है।''

दोपहर का समय, कोई जानकार व्यक्ति वहां से गुज़र भी नहीं रहा था। पानवाले, लांड्रीवाले, पनचक्कीवाले से पूछना व्यर्थ। तभी मैंने देखा, दो लड़के कंधों पर बस्ता रखे चले जा रहे हैं। मैंने उन्हें रोका और बच्चों के कार्यक्रम के कंपीअरवाली मधुरता से पूछा, ''अच्छा बच्चो, ज़रा यह तो बताओ कि यदि हमें कभी यह पता लगाना हो कि उत्तर दिशा कहां है, तो हम क्या करेंगे?''

वे आश्चर्यपूर्ण मिच-मिची आंखों से कुछ देर मेरी ओर देखते रहे। फिर उनमें से एक जो अपेक्षाकृत तेज़ था, उसने कहा – ''ध्रुवतारा उत्तर दिशा में चमकता है। यदि हम उस ओर देखते हुए सीधे खड़े रहें तो हमारे सामने उत्तर, पीठ पीछे दक्षिण, दाहिनी ओर ....।''

''शाबाश बच्चो, मगर जैसे दिन का समय हो और किसी को यह जानना हो कि उत्तर दिशा कहां है, तो उसे क्या करना होगा?'' मैंने उन्हें बीच में रोककर फिर पूछा।

''इसके लिए हमें कुतुबनुमा देखना चाहिए, जिसकी सुई सदैव उत्तर दिशा बतलाती है।''

''शाबाश बच्चो, धन्यवाद!'' मैंने दिव्य व्यक्ति से पूछा, ''आपके पास कुतुबनुमा है?''

''क्या होता है कुतुबनुमा?'' दिव्य उत्तर मिला।

''अच्छा बच्चो, यदि किसी के पास कुतुबनुमा न हो, तो वह उत्तर दिशा कैसे पहचानेगा, ज़रा यह बताओ।''

''यह हमें नहीं पता।''

''हमारे कोर्स में नहीं है।'' दूसरे बच्चे ने कहा।

मैंने दिव्य व्यक्ति की ओर असहाय दृष्टि से देखा। जवाब में उन्होंने सूर्य की ओर देखा, फिर शंख की ओर देखा।

''एक कुतुबनुमा इस समय होना ज़रूरी है।''

''क्या होता है कुतुबनुमा?''

''एक प्रकार का यंत्र होता है, जो दिशा बताता है।'' मैंने जवाब दिया।

''धिक्कार है, हम दिशा जानने के लिए भी यांत्रिकता के गुलाम हो गए। दिशाएं तो चिरकाल से अटल हैं और सदा रहेंगी परंतु हम उन्हें भूल गए। हम सब कुछ भूल गए।''

''ठीक कह रहे हैं आप। मैं तो शंख बजाना भी भूल गया। छोटा था तब खूब बजा लेता था। हमारी क्रिकेट टीम के किसी खिलाड़ी का एक रन भी बन जाता या हमारे बालक से एक विकेट भी आउट हो जाता, तो मैं

खुशी में बाउंड्री पर खड़ा शंख बजाया करता था।'' मैंने कहा।

''साधना का यह चरम क्षण व्यर्थ जा रहा है बाबू, मैंने सात दिनों तक यंत्र साधना कर इस शंख में वह शक्ति उत्पन्न की है कि जिधर फूंक दूं, वही दिशा भस्म हो जाए; पर मुझे यह बताने वाला कोई नहीं है कि उत्तर दिशा कहां है? कहां है उत्तर दिशा, कहां है?'' उन्होंने व्यथित स्वरों में कहा और शंख हाथ में ले चारों ओर घूमने लगे और उनके साथ मैं भी घूमने लगा।

क्या किया जा सकता था? उनकी पीड़ा उस ऐक्टर की तरह थी, जो महाभारत ड्रामे में पार्ट कर रहा हो – ''हाय, यह ब्रह्मास्त्र कहीं गलत न छूट जाए, नाथ?''

वह तेजोमय उन्नत ललाटवाला व्यक्ति अपने करों में एक दिव्य शक्ति संपन्न शंख लिए खड़ा पूछ रहा है – ''उत्तर दिशा कहां है!'' इसका उत्तर किसी के पास नहीं है।

सच यह है कि कुतुबनुमा नहीं है। एक वैज्ञानिक तथ्य का अभाव सारी मंत्रबल की, आत्मबल की शक्ति को निरर्थक कर रहा है।

''परम श्रद्धेय!'' मैंने हाथ जोड़कर कहा, ''जब तक शंख से कुतुबनुमा अटैच नहीं होगा, आपकी साधना इसी प्रकार व्यर्थ जाएगी। कुतुबनुमा अनिवार्य है।''

उन्होंने अपने दिव्य नेत्रों से मेरी ओर यूं देखा, जैसे वे किसी परम नास्तिक की ओर देख रहे हों, जिसे भारतीय संस्कृति का मर्म नहीं मालूम। मैं डर गया। कहीं आवेश में वे अपना शंख मुझ पढ़े-लिखे पर ही नहीं फूंक दें, जो उत्तर दिशा नहीं जानता।

सूर्य अपनी बारह बजे वाली ऊंचाई से हट रहा था। साधना का उच्चतम क्षण खिसक रहा था। तेजोमय ललाट का वह दिव्य व्यक्ति काफी देर तक चौराहे पर निराश-सा पैर पटकता रहा और फिर अपना शंख लिए एक ओर चला गया।

मैं क्या कर सकता था। पता नहीं, उत्तर थी या दक्षिण, मगर पानवाले की दिशा में बढ़ जाने के अतिरिक्त मैं क्या कर सकता था!

शरद जोशी: हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध व्यंग्यकार। व्यंग्यकथाएं, नाटक तथा अखबारों में नियमित स्तंभ लिखे हैं। 1991 में मृत्यु।

सभी चित्र: **मृणाल पुरोहित:** फाइन आर्ट में डिप्लोमा। होशंगाबाद में निवास।

राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वारा प्रकाशित संकलन 'यथासम्भव' से साभार।

खरमो

मादा को रीझाने के लिए नायाब उछाल

के. आर. शर्मा

मुझे एक बार खरमोर नामक पक्षी को देखने का अवसर मिला था। उसे देखने हम सब अपने शिक्षक के साथ 1984 में बरसात के दिनों में धार के निकट जैतपुरा गांव से सटे घास के मैदान में गए थे; और पौ फटने से पहले सुबह-सुबह इस घास के मैदान में पहुंच गए थे। मुझे बताया गया था कि बरसात के दिनों में खरमोर घास के मैदानों में पहुंच जाता है और आकाश में उछलता है। इस प्रकार जब नर खरमोर उछलता है तो उसकी उपस्थिति का पता चल जाता है।

चौकन्ने होकर हम घास के मैदान में चारों ओर निगाहें दौड़ा रहे थे तभी एक खरमोर ऊंची घास में से अचानक अपने पंखों को फड़फड़ाता हुआ ऊपर की ओर उछला और फिर पैराशूट की भांति गिरते हुए घास में ही गायब हो गया। इस दृश्य को हालांकि हमने काफी दूर से देखा था किंतु मैं रोमांचित हो उठा।

इस पूरी घटना को देखकर उस

बरसात के दिनों में ऊंची उछाल भरता हुआ नर खरमोर

समय मेरे जेहन में बहुत सारे सवाल उमड़ रहे थे। उस वक्त मुझे खरमोर के बारे में कुछ जानकारी मेरे शिक्षक ने दी थी। बाद में पक्षियों से संबंधित साहित्य टटोलने पर जो जानकारी मिली उसे यहां प्रस्तुत कर रहा हूं।

खरमोर (Lesser Florican) देशी मुर्गे के आकार का पक्षी है। यह सोहन चिड़िया (Bustard) परिवार का सदस्य है। इस परिवार में गोंडावण (Great Indian Bustard) भी आता है।

यदि हम जीव-जगत पर नज़र डालें तो पता चलता है कि इनमें प्रजनन के दौरान क्या-क्या नहीं होता – अपने वंश को आगे बढ़ाने के लिए जब नर और मादा जोड़ा बांधते हैं तो कुछ में मार-धाड़ और खून-खच्चर तक की नौबत आ जाती है। कुछ में मादा को आकर्षित करने के लिए नर बड़ी शालीनता से नाच-गाना करते हैं। खरमोर के प्रणय-निवेदन (Court ship) का तरीका बड़ा ही अनूठा है।

खरमोर के बारे में जो जानकारी है उसके मुताबिक यह भारत के मैदानी भागों में बड़ी संख्या में पाया जाता था। किंतु अब इनकी संख्या काफी कम हो गई है।

खरमोर स्थानीय रूप से स्थानांतरण (Local Migration) करते हैं। और बरसात के दिनों में ऐसे स्थान पर पहुंच जाते हैं जहां ऊंची-ऊंची घास के मैदान हों। दरअसल घास के मैदान खरमोर के प्रजनन स्थल हैं। कभी-कभी ये घास के मैदान से लगे कपास सोयाबीन आदि फसलों वाले खेतों में भी पहुंच जाते हैं। दक्षिण -पश्चिमी मॉनसूनी हवाओं के साथ ही ये घास के मैदानों की ओर कूच कर जाते हैं।

नर खरमोर प्रजनन काल में आकर्षक रूप धारण कर लेता है। उस समय इसकी गर्दन और छाती काले रंग की तथा बगल वाले पंख सफेद होते हैं। माथे पर एक कलगी होती है। मादा खरमोर बारहों मास एक सरीखी रहती है। यह मटमैले रंग की तथा चितकबरी होती है। प्रजनन काल में नर खरमोर काफी सक्रिय हो उठता है जबकि मादा शर्मिली तथा चुप रहती है।

बरसात के दिनों में घास के मैदानों में घास काफी ऊंची उठ जाती है। ऐसे में नर खरमोर मादा को आकर्षित करने तथा अपनी उपस्थिति जताने के लिए ऊपर की ओर उछलता है। ऊपर उछलते वक्त नर खरमोर अपने पंखों को फड़फड़ाता है, अपनी दुम को फुला लेता है और ज़ोर से आवाज़ निकालता है। और फिर पैराशूट की भांति गिरते हुए वापस ज़मीन पर लौट आता है।

नर खरमोर की आवाज़ इतनी तेज़ होती है कि लगभग आधे किलोमीटर के क्षेत्र में गूंजती है। अक्सर नर खरमोर सुबह या शाम को उछलता

है। या फिर दिन में घने बादल छाए हों तब भी उछलते देखा गया है।

नर खरमोर इस उछाल के दौरान क्षेत्र रक्षण करता है। नर खरमोर अपने क्षेत्र में किसी दूसरे नर खरमोर की उपस्थिति बर्दाश्त नहीं करता। कभी-कभी बड़ा ही दिलचस्प नज़ारा देखने में आता है। एक ही घास के मैदान में दो या अधिक नर खरमोर में होड़ शुरू हो जाती है। दोनों कोशिश करते हैं कि बेहतर प्रदर्शन करें। जब एक नर खरमोर उछलता है तो दूसरा तभी ऊपर उछलेगा जब पहला खरमोर ज़मीन पर आ जाएगा। दिन भर में एक नर खरमोर 400 बार तक उछलते देखा गया है।

इस दौरान मादा खरमोर घास में ही दुबकी बैठी रहती है।

तत्पश्चात नर और मादा जोड़ा बांधते हैं यानी उनका समागम होता है। मादा खरमोर ज़मीन पर किसी छिछले गड्ढे में 3-4 अंडे देती है और फिर उन्हें सेती है। अंडों से जो बच्चे निकलते हैं उनकी देखभाल भी मादा ही करती है। नर खरमोर की अपनी संतान की परवरिश में कोई भूमिका नहीं होती।

खरमोर को लेकर कई पहलू अभी भी पहेली बने हुए हैं। मसलन क्या एक नर एक से ज़्यादा मादाओं के साथ जोड़ा बनाता है, मादा अपने बच्चों की परवरिश कब तक करती है, खरमोर प्रजनन काल बीत जाने के बाद कहां चले जाते हैं और वहां क्या
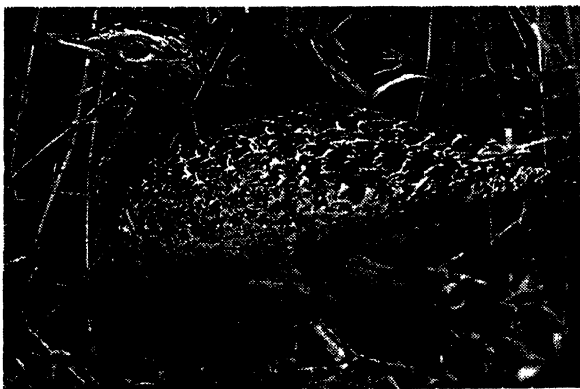
घास के मैदान में दुबकी बैठी मादा खरमोर, अपने दो अंडों के साथ। इन अंडों का रंग हरा होता है।

खरमोर की उछाल: सरदारपुर या सैलाना में बरसात के दिनों में यह दृश्य काफी दुर्लभ है जब एक नर खरमोर घास से ऊपर उछाल मारता है और फिर पंख फैलाकर पैराशूट की तरह ज़मीन की ओर गिरता है। पहले चित्र में नर ने उछाल भरी है तथा दूसरे चित्र में वह पंख फैलाकर ज़मीन की ओर आ रहा है।

करते हैं? वगैरह।

लेकिन खरमोर के प्रजनन के साथ एक दुखद पहलू भी जुड़ा है। खरमोर को गेम बर्ड माना जाता है यानी इंसान इसका बहुतायत में शिकार कर रहे हैं। शिकार करने वाले बरसात के दिनों में घात लगाकर बैठे रहते हैं। जब नर खरमोर मादा को रीझाने के लिए उछलता है तो शिकारी उसे निशाना बना देते हैं।

जिससे प्रणय निवेदन किया जा रहा था वह मादा भी वहीं आसपास घास में छिपी होती है। इसलिए मादा भी जान से हाथ धो बैठती है। जिस अनूठे प्रणय निवेदन को नर खरमोर अपने वंश को आगे बढ़ाने के लिए अपनाता है वही उछाल उसकी ज़िंदगी की आखरी उछाल साबित होती है।

इन्हीं सब कारणों से खरमोर अब इतने कम हो गए हैं कि इन्हें विलुप्तशील पक्षियों की श्रेणी में गिना जाने लगा है।

मध्यप्रदेश के धार ज़िले में सरदारपुर तथा रतलाम ज़िले में सैलाना में खरमोर अभ्यारण्य बनाए गए हैं। यहां बरसात के दिनों में खरमोर स्थानांतरित होकर आते हैं और प्रजनन करके फिर न जाने कहां चले जाते हैं।

के. आर. शर्मा: एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान कार्यक्रम से संबद्ध। उज्जैन में रहते हैं।

सभी फोटो सेंचुरी पत्रिका के जनवरी-मार्च 1987 अंक से साभार। **फोटोग्राफर: रवि शंकरन।**

12762
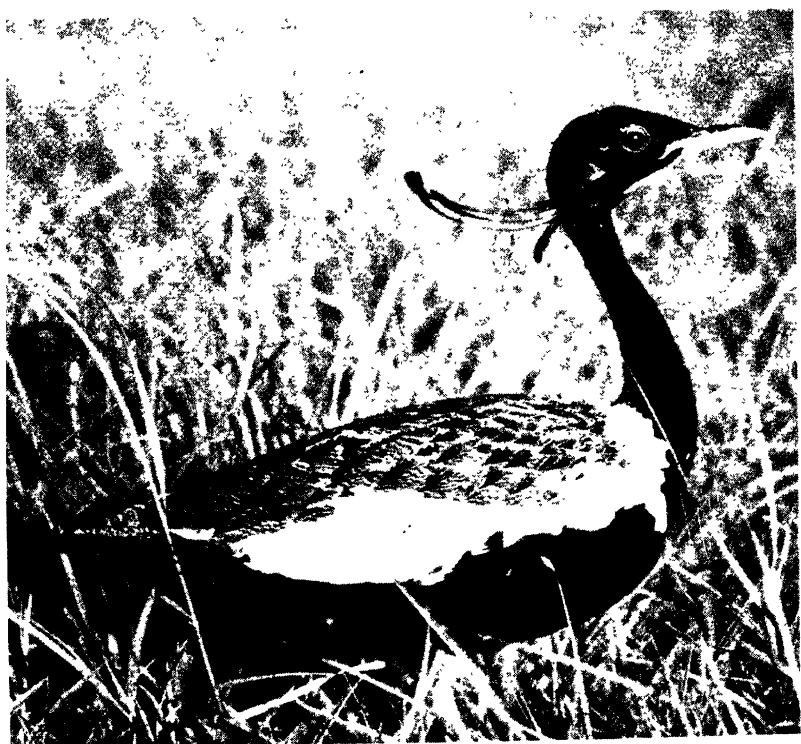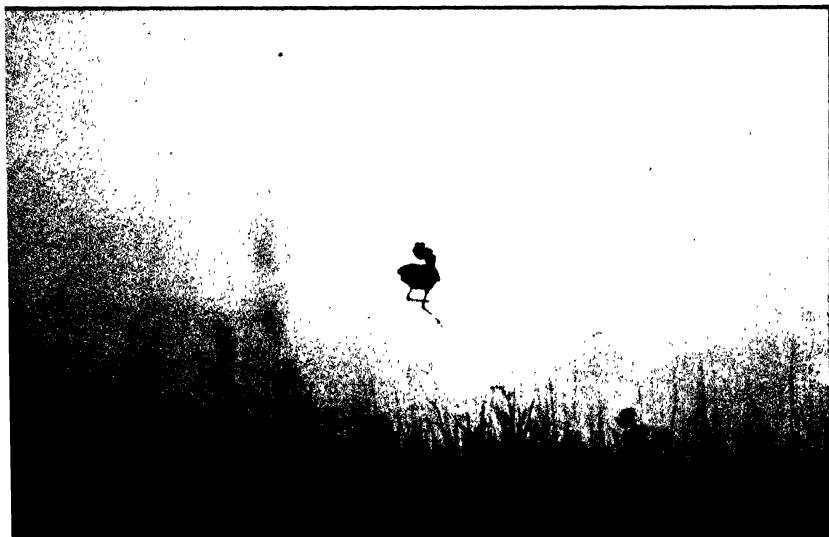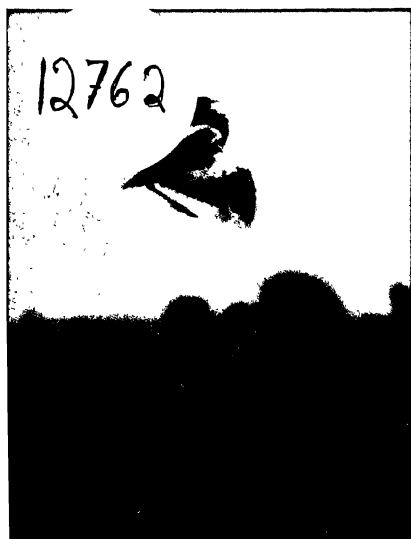
एकलव्य की ओर से राजेश खिंदरी द्वारा भंडारी ऑफसेट प्रिंटर्स, ई-3/12, अरेरा कॉलोनी, भोपाल से मुद्रित एवं एकलव्य ई-1/25 अरेरा कॉलोनी, भोपाल 462016 से प्रकाशित। संपादक-राजेश खिंदरी